स्वभावोक्ति

डॉ० मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

प्रकाशक सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बिस्सों का चौक, बीकानेर
प्रथम संस्करण १९८०
मूल्य तीस रुपये
मुद्रक विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली ३२

SWABHAWOKTI by Mathuresh Nandan Kulshreshtha Price Rs 30 00

'स्वभावोक्ति काव्यस्य मूलम्'
का सूत्र देनेवाले
आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
को

दो शब्द

सन् १९६२ मे मैं दिल्ली विश्वविद्यालय मे 'हिन्दी काव्य मे स्वभावोक्ति' नामक विषय पर शोध करने के हेतु पंजीकृत हुआ था। इस विषय पर मैं डॉ० सत्यदेव चौधरी के मार्ग-दर्शन मे पिछले एक वर्ष से कार्य करता चला आ रहा था और १९६३ तक करता रहा। परन्तु जीविका-उपार्जन की दृष्टि से इसी बीच दिल्ली छोडकर राजस्थान आना पडा। परन्तु राजस्थान विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष को मेरा यह विषय पसन्द नही आया और इसे अस्वीकृत कर उन्होने 'स्वाभाविकता और आधुनिक हिन्दी-काव्य' पर कार्य करने को कहा। उनकी इच्छानुसार पी एच० डी० का कार्य इसी विषय पर किया परन्तु शोध प्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय को प्रस्तुत करने के उपरान्त 'स्वभावोक्ति' विषय को लेकर जो कुछ कार्य किया था उसको व्यवस्थित करके पुस्तक के रूप मे प्रकाशित करने का लोभ सवरण न कर सका। उसी के प्रतिफल के रूप मे पुस्तक आपके हाथ मे है।

जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, स्वभावोक्ति को लेकर अब तक हिन्दी या अग्रेजी मे छुटपुट लेख ही लिखे गये हैं या फिर काव्यशास्त्र की पुस्तकों मे कही कुछ पृष्ठ दे दिये गये हैं, परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे स्वभावोक्ति शैली के महत्त्व की व्यवस्थित और अनुसधानपरक स्थापना किसी ने नही की है। इस दृष्टि से यह कार्य नितान्त मौलिक है।

अन्त मे मैं डॉ० सत्यदेव चौधरी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनके निर्देशन मे १९६१-६२ मे इस कार्य की मुख्य सामग्री का सकलन हुआ और लगभग चार अध्याय लिखे गये। यह पूज्य डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित की सतत् प्रेरणा और मार्ग दर्शन का ही फल है कि पी एच० डी० के उपरान्त इस कार्य को पूर्ण करके साहित्य जगत के समक्ष प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। विश्वास है कि उनका प्रोत्साहन मुझे सतत् क्रियाशील रखेगा। प्रिय छात्र श्री बाबूलाल शर्मा, प्रवक्ता—हिन्दी विभाग, जाट मैमोरियल कालिज, रोहतक ने इस ग्रन्थ की टंकित लिपि को सशोधित और परिष्कृत करने का कष्ट उठाया अत वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

—मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

भूमिका

काव्यशास्त्र का विषय जितना गहन है, उतना ही जटिल भी। काव्यबोध के लिए उसके विवेचकों ने अनवरत श्रम करके जितने नये मार्गों की खोज की है और जितनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और पैठ से काम लिया है, उतना ही साधारण पाठक और विचारवन्त विवेचक के लिए काव्यशास्त्रीय गुत्थियाँ उलझनभरी प्रमाणित होती गयी हैं। विवेक को जागृत करते-करते स्वय विवेक ही अपना आवरण बनता चला गया है। उस रहस्य को सुलझाने के इन सारे प्रयासो के विषय मे भी 'कामायनी' की पक्ति 'आवरण स्वय बनते जाते, है भीड लग रही दर्शन की' भले ही दोहरायी जा सके, किन्तु नयी प्रतिभा इन आवरणो को भेद-कर भी उस रहस्य का उदघाटन करने के लिए तत्पर हुए बिना नही रहती।

'स्वभावोक्ति' काव्य-शास्त्रीय विवेचन का प्राय आरम्भिक विषय है। भामह से लेकर अब तक के विद्वानो और आचार्यों की दीर्घ परम्परा मे स्वय भारतीय मनीषा ने इसके पक्ष विपक्ष मे अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। परिचय के विवेचन को और मिला लिया जाय तो इस विषय मे की गयी अनेकानेक विप्रतिपत्तियो का ऐसा जटिल जाल उपस्थित होता है कि सहज ही उसे सुलझाने का धैर्य खो जाता है।

'स्वभावोक्ति' को अधिकाश आलकारिकों ने अलकार की प्रतिष्ठा दी, किन्तु कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त से उसे सीधी टक्कर ही लेनी पडी। भारतीय आचार्यों ने काव्य विवेक के जितने सिद्धान्त प्रस्तुत किये वे आपस मे टकराकर भी कही-न-कही मूल मे एक-दूसरे के मूल तत्त्वो को आत्मसात् करके उन्हें नामान्तर से भी प्रस्तुत करते रहे। इस नामान्तर की दौड के बीच से मूल तत्त्व को ग्रहण करना और अनेकत्व के दर्शन के बीच प्रतिष्ठित एक ही छवि का दर्शन करा सकना असभव भले ही न हो, श्रम एव विवेक-साध्य अवश्य है। कुन्तक ने भी अपनी प्रतिभा से स्वभावोक्ति का समाहार वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही कर दिखाया है। इसका तात्पर्य यह नही है कि स्वभावोक्ति का इसे अगौरव मान लिया जाय या कि काव्य के महनीय और मूल तत्त्व के रूप मे उसकी पहचान से आँख चुरायी जाय। स्वय कुन्तक स्वभावोक्ति के गुण-धर्म

पर मुग्ध हैं और उसमे गाव्यत्व की प्रतिष्ठा को नि सकोच स्वीकृति देते हैं। यही दशा उनके द्वारा किये गए मार्गों के अनुसधान की भी है कि वहाँ भी स्वभावोक्ति अपने आदर से च्युत न होकर 'सुकुमार मार्ग' मे अपना अनल्प योग देती दीखती है। कुन्तक को आपत्ति है तो स्वभावोक्ति को अलकार कहे जाने के प्रति है, जिससे वे किसी भी प्रकार समझौता नही कर पाते। अलकार्य और शैली के रूप में स्वभावोक्ति का स्थान उनके यहाँ भी सुरक्षित है। यहाँ तक कि उनका समझौता इतना तक है कि उसे 'अलकार' कहना ही अभीष्ट है तो वे उसे भी स्वीकार कर सकते हैं, मगर लाक्षणिक अर्थ मे ही।

हिन्दी-ग्रथो मे 'स्वभावोक्ति' अधिकाशत एव अलकार के रूप म वर्णित है। उन स्थलो पर दिये गए विभिन्न उदाहरणो पर विचार करें तो दो बातें साफ दिखाई देती हैं। एक, या तो ये उदाहरण स्वभावोक्ति के नहीं हैं और इनमे अलकार का चातुर्य ही प्रधान है, और दूसरे, जिन उदाहरणो मे स्वाभाविकता की सहज रक्षा हुई है वहाँ भी वाणी के सहज प्रवाह के रूप मे लाक्षणिक प्रयोग तथा अलकारो का सन्निवेश हो गया है। सीधे-सहज वर्णनो के साथ, जिनमे अलकारो का समावेश नही किया गया है, उक्त प्रकार के उदाहरणो को ध्यान मे रखें तो कुन्तक की वस्तु या वाक्य-वक्रता का सारा विवेचन इसी के अन्तर्गत आ जाता है। स्वय कुन्तक भी जब यह कहते हैं कि स्वभावत मनोरम वर्णन मे उपमादि अलकारो का अधिक प्रयोग नही किया जाना चाहिए, तब वे इसी बात की स्वीकृति देते जान पडते हैं कि स्वभावोक्ति स्वत रमणीय होने से निरलकृत ही शोभित होती है, किन्तु वाणी का जैसा अपना विलक्षण स्वभाव है उसे देखते हुए अलंकारों के अनायास प्रयोग का उसमें निषेध नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो में, कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ वस्तु-वर्णन होगा वहाँ कवि-कल्पना की विलक्षणता के कारण वह या तो स्वयं सुन्दर होगा और अलकार्य ही होगा, या यदि उसमे वस्तु-वर्णन के साथ उक्ति का विशेष चमत्कार होगा तो वहाँ अनायास एव अलक्षित भाव से ही किसी-न-किसी अलकार की प्रतिष्ठा होगी जो अपनी सहजता मे स्वभावोक्ति को ही पुष्ट करेगा। वहाँ की चमत्कृति को देखकर उसे स्वभावोक्ति अलकार की पृथक् सज्ञा देना उचित नही है। उदाहरणत, तुलसीदास जी की 'गीतावली' से कौशल्या के द्वारा कहलाये गए निम्नलिखित छन्द मे सपूर्णतया स्वभावोक्ति की और साथ ही सरल तथा सरस शैली की सिद्धि तो होती है, किन्तु उसकी सरलता एव सहजता म सन्देह, पर्यायोक्ति, लोकोक्ति का स्वाभाविक योग उसके सौन्दर्य को और बढाता ही है

आली री मोहि कोउ न समुझावै।
राम गमन साँचो किधौं सपनो, उर परतीति न आवै।
लगेइ रहत इन नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।

तदपि न मिटत दाह या तन को विधि जो भयउ विपरीता।
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तन न रहे बिनु देखे।
करत न प्राण पयान सुनहु सखि, समुझि परी यहि लेखे।
कौसिल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठी सब रानी।
तुलसीदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी।।

माता के हृदय की सहज व्याकुलता, अधीरता, दीनता आदि के साथ मिलकर इन अलकारो की स्थिति इतनी सहज हो गयी है कि साधारणत. उसकी ओर ध्यान ही नही जाता। विहारी ने 'अलि इन लोयन कों कछू उपजी वडी वलाय, नीर भरे नितप्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय', कहकर विरह-वर्णन से अधिक जिस अलकार-चमत्कार का प्रदर्शन किया है वैसा न करके यहाँ तुलसीदास जी ने राम, लक्ष्मण और सीता के द्वारा वात्सल्य को उभारकर सामने प्रस्तुत कर दिया है। 'लगेइ रहत' में लक्षणा का प्रयोग भी अपनी सहजता में नितान्त रमणीय ही है।

इसी प्रकार 'निराला' जी द्वारा लिखित 'भिक्षुक' कविता की निम्नलिखित पक्तियो मे भी लक्षणा-व्यजना-व्यापार की सहज उपस्थिति इसे चित्रात्मकता प्रदान करती है और स्वभावोक्ति का रमणीय विधान करती है -

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता,
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
वह फटी पुरानी झोली का मुँह फैलाता।

कलेजे के दो टूक करने और पेट-पीठ दोनो के मिलकर एक हो जाने मे चाहे मुहावरे का सौन्दर्य खोज लें, चाहे लक्षणा-व्यजना का व्यापार देख लें और चाहे अतिशयोक्ति को बूझ लें, किसी भी प्रकार से काव्यगत सहजता और स्वभावोक्ति को हानि नही पहुँचती और रमणीयता ही आती है। अतएव स्वभावोक्ति मे इन सबके सन्निवेश को स्वीकार करने मे कोई हर्ज नही। हाँ, वक्रता, ध्वनि और भाव-सम्पुष्टि के प्रति अनुकूलता मे ही इनका महत्त्व है, प्रधानभूत हो जाने मे नहीं।

प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ ने काव्य-विवेक से सबधित इस महत्त्वपूर्ण एव विवादग्रस्त विषय का विशद विवेचन करने का प्रयत्न किया है। विषय की स्पष्टता के लिए उन्हें इसके ऐतिहासिक विकास के विस्तार मे जाने की तो आवश्यकता हुई ही है, साथ ही जमकर अनेक विरोधी

पर मुग्ध हैं और उसमे काव्यत्व की प्रतिष्ठा को नि सकोच स्वीकृति देते हैं। यही दशा उनके द्वारा किये गए मार्गों के अनुसधान की भी है कि वहाँ भी स्वभावोक्ति अपने आदर से च्युत न होकर 'सुकुमार मार्ग' मे अपना अनल्प योग देती दीखती है। कुन्तक को आपत्ति है तो स्वभावोक्ति को अलकार कहे जाने के प्रति है, जिससे वे किसी भी प्रकार समझौता नही कर पाते। अलकार्य और शैली के रूप मे स्वभावोक्ति का स्थान उनके यहाँ भी सुरक्षित है। यहाँ तक कि उनका समझौता इतना तक है कि उसे 'अलकार' कहना ही अभीष्ट है तो वे उसे भी स्वीकार कर सकते हैं, मगर लाक्षणिक अर्थ मे ही।

हिन्दी-ग्रथो मे 'स्वभावोक्ति' अधिकाशत एव अलकार के रूप मे वर्णित है। उन स्थलो पर दिये गए विभिन्न उदाहरणो पर विचार करें तो दो बातें साफ दिखाई देती हैं। एक, या तो ये उदाहरण स्वभावोक्ति के नही हैं और इनमे अलकार का चातुर्य ही प्रधान है, और दूसरे, जिन उदाहरणो मे स्वाभाविकता की सहज रक्षा हुई है वहाँ भी वाणी के सहज प्रवाह के रूप म लाक्षणिक प्रयोग तथा अलकारो का सन्निवेश हो गया है। सीधे सहज वर्णनो के साथ, जिनमे अलकारो का समावेश नही किया गया है, उक्त प्रकार के उदाहरणो को ध्यान मे रखें तो कुन्तक की वस्तु या वाक्य वक्रता का सारा विवेचन इसी के अन्तर्गत आ जाता है। स्वय कुन्तक भी जब यह कहते हैं कि स्वभावत मनोरम वर्णन मे उपमादि अलकारो का अधिक प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, तब वे इसी बात की स्वीकृति देते जान पडते हैं कि स्वभावोक्ति स्वत रमणीय होने से निरलकृत ही शोभित होती है, किन्तु वाणी का जैसा अपना विलक्षण स्वभाव है उसे देखते हुए अलकारो के अनायास प्रयोग का उसमे निषेध नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ वस्तु-वर्णन होगा वहाँ कवि-कल्पना की विलक्षणता के कारण वह या तो स्वय सुन्दर होगा और अलकार्य ही होगा, या यदि उसमे वस्तु-वर्णन के साथ उक्ति का विशेष चमत्कार होगा तो वहाँ अनायास एव अलक्षित भाव से ही किसी-न-किसी अलकार की प्रतिष्ठा होगी जो अपनी सहजता मे स्वभावोक्ति को ही पुष्ट करेगा। वहाँ की चमत्कृति को देखकर उसे स्वभावोक्ति अलकार की पृथक् सज्ञा देना उचित नही है। उदाहरणत, तुलसीदास जी की 'गीतावली' से कौशल्या के द्वारा कहलाये गए निम्नलिखित छन्द मे सपूर्णतया स्वभावोक्ति की और साथ ही सरल तथा सरस शैली की सिद्धि तो होती है, किन्तु उसकी सरलता एव सहजता म सन्देह, पर्यायोक्ति, लोकोक्ति का स्वाभाविक योग उसके सौन्दर्य को और बढाता ही है

आली री मोहि कोउ न समुझावै।
राम गमन सांचो किधौं सपनो, उर परतीति न आवै।
लगेइ रहत इन नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।

तदपि न मिटत दाह या तन को विधि जो भयउ विपरीता।
दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत, तन न रहै बिनु देखे।
करत न प्राण पयान सुनहु सखि, समुझि परी यहि लेखे।
कौसिल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसीदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी।।

माता के हृदय की सहज व्याकुलता, अधीरता, दीनता आदि के साथ मिलकर इन अलकारो की स्थिति इतनी सहज हो गयी है कि साधारणत उसकी ओर ध्यान ही नही जाता। बिहारी ने 'अलि इन लोयन कों कछू उपजी बडी बलाय, नीर भरे नितप्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय', कहकर विरह-वर्णन से अधिक जिस अलकार-चमत्कार का प्रदर्शन किया है वैसा न करके यहाँ तुलसीदास जी ने राम, लक्ष्मण और सीता के द्वारा वात्सल्य को उभारकर सामने प्रस्तुत कर दिया है। 'लगेइ रहत' मे लक्षणा का प्रयोग भी अपनी सहजता मे नितान्त रमणीय ही है।

इसी प्रकार 'निराला' जी द्वारा लिखित 'भिक्षुक' कविता की निम्नलिखित पक्तियो मे भी लक्षणा-व्यजना-व्यापार की सहज उपस्थिति इसे चित्रात्मकता प्रदान करती है और स्वभावोक्ति का रमणीय विधान करती है

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता,
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
वह फटी पुरानी झोली का मुँह फैलाता।

कलेजे के दो टूक करने और पेट-पीठ दोनो के मिलकर एक हो जाने मे चाहे मुहावरे का सौन्दर्य खोज लें, चाहे लक्षणा-व्यजना का व्यापार देख लें और चाहे अतिशयोक्ति को बूझ लें, किसी भी प्रकार से काव्यगत सहजता और स्वभावोक्ति को हानि नही पहुँचती और रमणीयता ही आती है। अतएव स्वभावोक्ति मे इन सबके सन्निवेश को स्वीकार करने मे कोई हर्ज नही। हाँ, वक्ता, स्थिति और भाव-सपुष्टि के प्रति अनुकूलता मे ही इनका महत्त्व है, प्रधानभूत हो जाने मे नही।

प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ ने काव्य-विवेक से सबधित इस महत्त्वपूर्ण एव विवादग्रस्त विषय का विशद विवेचन करने का प्रयत्न किया है। विषय की स्पष्टता के लिए उन्हें इसके ऐतिहासिक विकास के विस्तार मे जाने की तो आवश्यकता हुई ही है, साथ ही जमकर अनेक विरोधी

विचारों से लोहा लेने की भी हुई है। विरोधी विचारों से टक्कर लेने में डॉ० कुलश्रेष्ठ ने जहाँ पूर्वाग्रह को पास नहीं फटकने दिया है, वहीं उन्होंने पूर्वपक्ष को पूरी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत भी किया है। बड़ी बात यह कि एक सच्चे विवेकी शोधकर्ता की तरह उन्होंने स्वयं अपने ही तर्कों को भी विपक्ष में रखकर अपने मत की परीक्षा की है। उनकी यह मूलगामी प्रवृत्ति शास्त्र लेखन के लिए अपेक्षित दृष्टि विस्तार और दृष्टि परिष्कार से उनकी सहायता करती है।

डॉ० कुलश्रेष्ठ ने प्रस्तुत ग्रंथ के छः अध्यायों में क्रमशः काव्य-वर्गीकरण, संस्कृत-काव्य-शास्त्र में स्वभावोक्ति, हिन्दी में स्वभावोक्ति विवेचन स्वभावोक्ति का भाव-पक्ष, स्वभावोक्ति का शैली पक्ष तथा स्वभावोक्ति के स्वरूप-निरूपण का विचार किया है। यों तो इन सभी अध्यायों में लेखक ने तर्क की संगति की छानबीन की प्रवृत्ति अपनाई है, किन्तु चौथे अध्याय से स्वयं उसकी स्वतंत्र स्थापनाओं का अवसर आने पर अंतिम तीन अध्यायों में उसकी मौलिकता और भेदक दृष्टि का प्रमाण विशेष रूप से प्राप्त होता है। चौथे अध्याय में आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ के साथ-साथ संस्कृति और प्राणिमात्र के कार्य-व्यापार के संदर्भ में स्वभाव का विस्तृत एवं विशद वर्णन किया गया है। इससे स्वभावोक्ति की व्याप्ति के निश्चय करने में सहायता प्राप्त हुई है, साथ ही व्यक्ति वैचित्र्य के अन्तर्गत प्रदर्शित विभिन्न स्वभाव से उसके भेदाभेद के विवेक के लिए भी अवसर प्राप्त हुआ है। डॉ० कुलश्रेष्ठ ने बड़ी सावधानी और कुशलता से व्यक्ति-वैचित्र्यगत स्वभाव को स्वभावोक्ति से बाह्य सिद्ध किया है।

स्वभावोक्ति का शैली-पक्ष विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। उसका विवेचन प्रचलित रीति, प्रवृत्ति और मार्ग के संदर्भ में अपेक्षित है। साथ ही शैलीगत तत्त्वों के विवेचन में भी विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है। श्री कुलश्रेष्ठ ने निरलंकृतता, निर्व्याजता, लक्षित बिम्ब-विधान, सारल्य, इति-वृत्तात्मकता, परिगणना और अभिधात्मकता को स्वभावोक्ति शैली की विशेषताएँ माना है। सतही तौर पर देखने से इस बात का डर है कि उक्त विशेषताओं को एक-दूसरे में अंतर्गत मानकर इनके परिगणन पर आक्षेप किया जाय। किन्तु डॉ० कुलश्रेष्ठ ने इस संभावित आपत्ति को पहले ही लक्षित करके इन सबके बीच आपसी भेद को भी स्पष्ट कर दिया है। इसके लिए उन्हें सूक्ष्म ब्यौरा में भी जाना पड़ा है। उदाहरण के लिए अभिधात्मकता तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि के बीच तथा निरलंकृतता एवं निर्व्याजता के बीच अंतर की स्थापना का विचार किया गया है। इसी अध्याय में गुण तथा विषय के संदर्भ में भी स्वभावोक्ति की स्थिति का विचार किया गया है। लेखक ने इस अध्याय के विवेचन में सर्वत्र काव्योदाहरणों से अपनी बात को स्पष्ट करने और स्वभावोक्ति शैली का रूप निश्चय करने का प्रयत्न किया है। अंतिम अध्याय एक उपसंहार

है किन्तु यहाँ भी अपनी पूर्व-स्थापनाओं का निर्देश करने के साथ-साथ लेखक ने पश्चिमी वादों में से कुछ की स्वभावोक्ति की दृष्टि से उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार किया है।

स्वभावोक्ति का इतने विस्तार से एक अलग ग्रंथ के रूप में इसमें पूर्व कोई विवेचन नहीं हुआ। डॉ० कुलश्रेष्ठ इस दिशा में इससे पूर्व ही राजस्थान-विश्वविद्यालय से मेरे निर्देशन में 'काव्य में स्वाभाविकता' विषय पर शोधकार्य करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। उनके दोनों ग्रंथों से काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में विचार की नयी दिशाएँ खुलती हैं। मतभेद की गुंजाइश सदैव और सब कहीं होती है। आश्चर्य नहीं कि विद्वानों को इन ग्रंथों की स्थापनाओं में भी इसके लिए अवकाश मिले, परन्तु मुझे विश्वास है कि डॉ० कुलश्रेष्ठ की मौलिकता तथा उनके विवेकसह श्रम का भी स्वीकार किया जायगा और उनके इस प्रयत्न का उचित सम्मान होगा।

पूना विश्वविद्यालय, पूना-७
२२-३-७३

— डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

विषय-सूची

व्यवहार-जगत् मे स्थिति कुछ भिन्न है। जब हम नाटक देखते हैं तो भी हमारी कर्णेन्द्रिय उतनी ही सजग रहती है जितने कि नेत्र। परन्तु उस समय आस्वाद का मुख्य केन्द्र वह दृश्य होता है जिसे सुनने के साथ-साथ हम देखते भी हैं। ऐसे क्षणों मे सहृदय की कल्पना को मानसिक बिम्ब बनाने का श्रम नही करना पडता। वे मच पर वस्तुरूप मे प्रत्यक्ष होते रहते हैं। अत आस्वाद म दृश्येन्द्रिय का ही मुख्य योग होने के कारण *इस काव्य का नाम दृश्य-काव्य रखा गया है।*

जहाँ तक श्रव्य-काव्य का प्रश्न है, कविता को सुनाने और सुनने का कार्य, मात्र कवि सम्मेलनो तक ही सीमित रह गया है। कही किसी कहानी-प्रतियोगिता मे कहानी का पाठ भी सुनाई पड जाता है, परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि आज काव्य का प्रत्येक रूप—कविता, कहानी, उपन्यास और यहाँ तक कि नाटक भी केवल पढे ही जाते हैं, सुने नहीं, और पढने म हमारी नेत्रेन्द्रिय ही अधिक सक्रिय रहती है, श्रोत्रेन्द्रिय नही। अत इस दृष्टि से देखने पर तो सम्पूर्ण काव्य ही दृश्य हो जाता है। परन्तु जिस आधार पर काव्य के पठनीय प्रकार को श्रव्य की कोटि मे रखा जाता है वह भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि "जब व्यक्ति सोचता है तो वह धीरे-धीरे बोलता है और जब व्यक्ति बोलता है तो ज़ोर-ज़ोर से सोच रहा होता है।" अत पढते समय सहृदय धीरे-धीरे बोलकर अपनी ही ध्वनि का श्रवण करता है। अत काव्य के इस प्रकार का नामकरण 'श्रव्य' सार्थक है।

विधा के आधार पर

मुख्य रूप से काव्य की दो ही मौलिक विधाएँ हैं—गद्य और पद्य। इन दोनो के मिश्रण से बने काव्य को एक अन्य प्रकार 'चम्पू' के नाम से स्वीकार किया गया है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे सम्पूर्ण काव्य को पहले इन्ही तीन भागो म विभक्त किया है। तदुपरान्त निबद्धन के आधार पर उनके और आगे भेद किये हैं जो उपविधा के रूप मे है।[1] वामन ने काव्य के सीधे-सीधे दो भेद किये

---

१ तैं शरीर च काव्यानामलकाराश्च दर्शिता।
शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥१ १०॥
पद्य गद्य च मिश्र च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा ॥१ ११॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निर्दशित।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीर काव्यसागरम् ॥१ १२॥
मुक्तक कुलक कोश सघात इति तादृश।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्त पद्य विस्तर ॥१ १३॥

—काव्यादर्श, दण्डी

हैं—गद्य और पद्य। तदुपरान्त गद्य और पद्य के भेदोपभेद प्रस्तुत किये हैं।[1]

जहाँ तक उपविधा का प्रश्न है यह वर्गीकरण हम भामह से ही मिल जाता है। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' मे काव्य के पाँच भेद किये हैं—(१) सर्गबद्ध, (२) अभिनेय वस्तु, (३) आख्यायिका, (४) कथा, और (५) अनिबद्ध काव्य।[2] दण्डी ने बन्ध के आधार पर काव्य के पाँच भेद किये हैं—मुक्तक, कुलक, कोश, सघात और महाकाव्य। वामन ने गद्य को तीन प्रकार का बताया है—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय, और पद्य को अनिबद्ध तथा निबद्ध—दो भागों मे विभक्त करके निबद्ध-काव्य के अनेक रूपों का लक्षण किया है तथा उनमे रूपक को ही श्रेष्ठ ठहराया है।[3]

वर्ण्य-विषय के आधार पर

वर्ण्य-विषय के आधार पर भामह ने काव्य के चार भेद किये हैं—देवादिवृत्त का निरूपक कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित-काव्य। इस वर्गीकरण मे वर्ण्य-वस्तु के जो दो भेद देवादिवृत्त तथा कल्पित किये हैं उनका महत्व आज समाप्त हो चुका है। वास्तव मे ये दोनों वर्ग काव्य की वर्ण्य-वस्तु की कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचते। परन्तु भामह के वर्गीकरण का अगला पग—कलाश्रित और शास्त्राश्रित, काव्य का वर्गीकरण न होकर वाङ्मय के सामान्य रूप और उसके कलात्मक रूप मे भेद उपस्थित करते हैं। शास्त्राश्रित-काव्य से तात्पर्य ललित-साहित्य से इतर-काव्य से है।

शैली के आधार पर

काव्य के वर्गीकरण का सबसे प्रमुख आधार शैलीगत है। वर्ण्य-विषय के प्रतिपादन का स्वरूप और कथन की प्रणाली को लेकर अनेक प्रकार के सिद्धान्तों की स्थापना की गई। इन सिद्धान्तों के विवेचन के द्वारा एक ओर काव्य स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ा और दूसरी ओर उस कौशल तथा समायोजन-प्रणाली का भी उद्घाटन हुआ, जिसका उपयोग कवि अपने काव्य मे करते आए हैं और करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र मे ध्वनि और वक्रोक्ति के आधार

---

१ काव्य गद्य पद्यच ॥१ ३ २१॥ —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन

२ सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धच काव्यादि तत्पुन: पचधोच्यते ॥१ १८॥

—काव्यालंकार, भामह

३ गद्य वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायच ॥१ ३ २२॥
पद्य अनेकभेदम् ॥१ ३ २६॥ तदनिबद्ध निबद्धच ॥१ ३ २७॥

पर काव्य के अनेक भेद किये गये। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में यद्यपि इस प्रकार के भेदों की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की गई, परन्तु फिर भी इन भेदों से अवगत रहे। इन आधारों पर किये गए भेदों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ध्वनिवादियों द्वारा किये गये वर्गीकरण

आनन्दवर्द्धन भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त के आविष्कर्ता हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने सम्पूर्ण काव्य का परीक्षण करते हुए काव्य की श्रेष्ठता का एक ठोस आधार दिया—प्रतीयमान अर्थ। इसी अर्थ की श्रेष्ठता के आधार पर ही उन्होंने काव्य के भेदोपभेद किये। आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य तीन प्रकार का होता है—(१) ध्वनि-काव्य, (२) गुणीभूतव्यंग्य और (३) चित्र-काव्य। जहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है वह काव्य ध्वनि-काव्य कहलाता है, परन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्य-अर्थ के समकक्ष या उससे कम महत्त्वपूर्ण होता है वह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य होता है, और जहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्य-अर्थ के उपकार के लिए आता है अथवा जहाँ प्रतीयमान अर्थ का अभाव होता है वहाँ चित्र-काव्य होता है।[1] मम्मट ने आनन्दवर्द्धन द्वारा किये गए इन तीनों काव्य-भेदों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम काव्य के नाम से ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया।[2] परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इस वर्गीकरण में थोड़ा-सा अन्तर करके काव्य के चार भेद किये—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, और (४) अधम। उनके अनुसार उत्तमोत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करें अर्थात् व्यंजना वृत्ति से समझावें। जहाँ व्यंग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कारजनक हो वह उत्तम काव्य होता है। जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य-अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो (व्यंग्य के चमत्कार की अपेक्षा वाच्य का चमत्कार उत्कृष्ट और स्पष्ट हो) वह मध्यम काव्य होता है। जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने

---

१ ध्वन्यालोक, १, १३, २, ३४, ३, ४२

२. इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥१४॥

इदमिति काव्यं। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य व्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थ युगलस्य।

—काव्यप्रकाश, मम्मट, सं०—झलकीकर, पृ० १६

अतादृशि गुणीभूत व्यंग्य व्यंग्ये तु मध्यमम्। —वही, पृ० २१

शब्दचित्रं, वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥१५॥ —वही, पृ० २२

के लिए हो वह अधम काव्य कहलाता है।[1]

वक्रोक्ति के आधार पर वर्गीकरण

ध्वनिशास्त्र मे प्रतीयमान अर्थ को ध्यान मे रखकर वर्गीकरण किया गया है। उसमे सारा बल व्यंग्यार्थ की कोटि पर ही केन्द्रित किया गया है। मुख्यार्थ उसका विवेच्य नही है। परन्तु मुख्यार्थ को प्रस्तुत करने के कौशल को लेकर वक्रोक्ति सिद्धान्त ने एक अन्य ही प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। ध्यान मे रखने की बात यह है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त कथन-प्रणाली पर बल देता है जबकि ध्वनि-सिद्धान्त कथ्य पर।

यद्यपि भामह द्वारा किये गए शास्त्राश्रित और कलाश्रित काव्य-भेदो मे शास्त्र और कला के मध्य एक हलकी विभाजक रेखा खीचने का प्रयास मिलता है; परन्तु इस विषय पर सर्वप्रथम स्पष्ट सकेत दण्डी ने किया है। द्वितीय परिच्छेद मे उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों मे विभक्त किया है—

"भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"[2]

अर्थात् वाङ्मय के दो प्रकार हैं—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। वक्रोक्ति का क्षेत्र तो काव्य मे ही है परन्तु स्वभावोक्ति का विस्तार शास्त्रादि तक व्यापक है।[3] तात्पर्य यह कि काव्य मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनो का ही समाहार होता है। काव्य का यह वर्गीकरण एकदम काव्यगत शैली को लेकर किया गया है, वर्णन-शैली के प्रकार को ध्यान मे रखकर किया गया है। स्वभावोक्ति का विस्तार शास्त्रादि तक बताने से यहाँ दण्डी का अभिप्राय यह संकेत देना है कि चिन्तन के क्षेत्र के लिए स्वभावोक्ति ही अधिक उपयोगी है जबकि भाव-क्षेत्र के लिए वक्रोक्ति-शैली। काव्य-क्षेत्र मे स्वभावोक्ति शैली का समाहार होता है और हो सकता है परन्तु शास्त्र मे वक्रोक्ति शैली का प्रयोग अधिक सगत नही है। दण्डी का यह विवेचन बहुत कुछ सत्य है कि चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावोक्ति-शैली ही उचित है, परन्तु वक्रोक्ति को उसके क्षेत्र से निष्कासित नही किया जा सकता। पाणिनि के व्याकरण तथा शास्त्रो मे अपनाई गई सूत्र-शैली इस बात का प्रमाण है कि वक्रोक्ति का प्रयोग शास्त्र मे भी होता आया

---

१ तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।

—रस गगाधर, बद्रीनाथ झा, मदन मोहन झा, पृ० ३३

यत्रव्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारण तद् द्वितीयम्॥ —पृ० ६१

यत्रव्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्। —पृ० ७०

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्द चमत्कृति प्रधान तदधम चतुर्थम्। —पृ० ७२

२ काव्यादर्श, दण्डी, १

३. जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, स्वभावाख्यानमीदृशम्।

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्यष्वप्येतदीप्सितम्॥१ १३॥

है। यद्यपि दण्डी के समय तक भारतीय काव्यशास्त्र भावतत्त्व को काव्य के मूल के रूप मे स्थापित नही कर पाया था परन्तु उसका हृदय कविता को पहचानता था। अत दण्डी के कथन का यही सकेत लेना अधिक समीचीन होगा कि भावतत्त्व की अभिव्यक्ति अधिकाशत वक्रोक्ति-शैली मे और स्थान स्थान पर स्वभावोक्ति-शैली म हुआ करती है तथा शास्त्रीय चिन्तन बहुधा स्वभावोक्ति-शैली म और कही-कही वक्रोक्ति-शैली मे हुआ करता है। दण्डी के इस वर्गीकरण से यह बात भी स्पष्ट है कि उन्होने स्वभावोक्ति को आगे चलकर भले ही एक अलकार के सकीर्ण अर्थ म स्वीकार किया हो परन्तु प्रारम्भ म उसका एक व्यापक शैली के रूप म ही स्वीकार किया है।

कुन्तकाचार्य ने अपने ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवितम्' की रचना स्वभावोक्ति के खण्डन और वक्रोक्ति की स्थापना के लिए की है। उन्होने कही भी काव्य को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति जैसे दो भागो म विभक्त नही किया है, वक्रोक्ति को काव्य का जीवित् घोषित करके हर स्थान पर स्वभावोक्ति का विरोध किया है। उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुन्तक ने स्वभावोक्ति के जिस रूप का खण्डन किया है वह है स्वभावोक्ति का अलकारत्व। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानत हुए भी कुन्तक स्वभावोक्ति के काव्यत्व का खण्डन नहीं कर सके हैं।[1] वे उसको निश्चित रूप से काव्य मानते हैं। वास्तव मे कुन्तक के अनुमार स्वभावोक्ति एक शैली है जो काव्य के लिए उपयोगी नही है। अत. हम कह सकते है कि यद्यपि कुन्तक ने कही भी अपनी ओर से काव्य का कोई वर्गीकरण प्रस्तुत नही किया है परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ के सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि वे काव्य दो प्रकार का मानते हैं—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। वक्रोक्ति एक उच्च कोटि का काव्य होता है और स्वभावोक्ति द्वितीय कोटि का।

भोज ने काव्य के लिए काव्य, उक्ति और अलकार—इन तीन शब्दो का समानार्थक प्रयोग किया है और वे सम्पूर्ण काव्य को तीन भागो म विभक्त करते हैं—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति। उपमा आदि अलकारो से युक्त उक्ति वक्रोक्ति होती है, प्रधान रूप मे गुणा से युक्त काव्य स्वभावोक्ति कहलाता है और विभावानुभाव के सयोग से निष्पन्न रस के प्राधान्य से युक्त काव्य रसोक्ति कहा जाता है—

"त्रिविध खल्वलकारवर्ग, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति', रसोक्तिरिति। तत्र उपमाद्यलकारप्राधान्ये वक्रोक्ति, सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्ति, विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्ति इति।"[2]

---

१ विस्तार के लिए देखिए पृ० ४६

२ शृगारप्रकाश, द्वितीय खण्ड, दशम अध्याय, पृ० ३७२

इन तीनो रूपो मे से रसोक्ति सर्वग्राह्य होने के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रति जानने ॥[1]

काव्य का यह त्रिविध वर्गीकरण शैली के आधार पर ही किया गया है। भोज ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति को काव्य की शैली माना है। साथ ही रस को भी शैलीगत विशेषता मे ही समाहृत किया है। भोज के अनुसार स्वभावोक्ति-शैली गुण-प्रधान शैली है।

टिलियर्ड का वर्गीकरण

व्यक्तिगत रूप से काव्य मे स्वभावोक्ति शैली का विवेचन करने वालो और अभिधात्मक काव्य की महत्ता को स्वीकार करते वाले पाश्चात्य विद्वानो म टिलियर्ड का नाम प्रमुखता के साथ लिया जा सकता है। इस विषय पर उन्होने एक छोटी-सी पुस्तक 'Poetry Direct & Oblique' मे अपनी दृष्टि से काव्य का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम उन्होने सिद्धान्तरूप मे यह बात स्वीकार की है कि वक्रता और अभिधात्मकता का अन्तर एक आनुपातिक अन्तर है, कोई पूर्णता-प्राप्त वर्गीकरण नही। वस्तुत अभिधात्मक काव्य वक्रकाव्य की ही एक श्रेणी है।[2] इस बात को स्वीकार करने के उपरान्त उन्होंने अभिधात्मक और वक्रकाव्य का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"यदा-कदा वक्रता से युक्त होने पर भी जो काव्य मुख्य रूप से अपने वर्ण्य-विषय (Professed Subject) तक सीमित रहता है, किसी अन्य अर्थ की ओर सकेत नही करता, उसे अभिधात्मक या वक्तव्यात्मक काव्य कहते हैं, और इसके विपरीत अपने वर्ण्य-विषय के अतिरिक्त किसी ऐसे अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला काव्य जो कथ्य रूप से नही, काव्य के अगो मे विकीर्ण होने वाली आभा का सग्रह रूप हो वक्र-काव्य

---

१ शृगारप्रकाश, ५।८

2 The terms 'direct' and 'oblique' are a false contrast All Poetry is more or less ob'ique there is no direct poetry But the terms 'less ob'ique' and 'more oblique' would sound ridiculous , and only way to be emphatic or even generally intelligible is by exaggeration to force a hypothetical but convinient contrast.

– Direct and Oblique, p 10

कहलाता है ।''[1]

अभिधात्मक काव्य को उन्होंने और आगे निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया है—

(१) सामान्य वक्तव्य काव्य,

(अ) पुन: सर्जनात्मक काव्य

(ब) नैतिकता का कथन करने वाला या सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला काव्य ।

(२) पुनर्बलप्राप्त या अलङ्कृत काव्य

(अ) पुनर्बल प्राप्त-काव्य—(१) अनुरणन से पुष्ट काव्य,
(२) लय से पुष्ट काव्य,

(ब) अलकृत काव्य ।

(३) छद्म वक्तव्य

वक्रकाव्य के उन्होंने निम्नलिखित तीन क्षेत्र और पाँच साधन बतलाए हैं—

क्षेत्र—(अ) संवेदनशीलता,
(ब) आदिम वृत्तियाँ,
(स) महान् अवधारणाएँ,

साधन—(अ) लय,
(ब) प्रतीक,
(स) अप्रासंगिक साहित्यिक सन्दर्भ,
(द) कथानक योजना,
(क) चरित्र-चित्रण योजना ।

टिलियर्ड की पुस्तक का नाम 'Poetry Direct and Oblique' अपने दो शब्दों Direct और Oblique के माध्यम से काव्य के जिन दो प्रकारों की ओर संकेत करता है उन्हें मोटी भाषा में सीधा काव्य और टेढ़ा काव्य कहा जा सकता है । टिलियर्ड का यह शब्द-प्रयोग हमें बिना किसी सन्देह के भारतीय काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति-सिद्धान्त की ओर ले जाता है और हम इनका रूपान्तर स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति कर उठते हैं । परन्तु सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़कर (वैसे यह बात प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट हो उठती है) यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि Oblique शब्द का प्रयोग वक्रोक्ति के अर्थ में न होकर व्यंजना वृत्ति के रूप

---

1. The main sense is stated in no particular whatever, but is diffused through every part of the poem and can be apprehended as a whole only through the synthesis of all these parts —Direct and Oblique, p. 15

में हुआ है। परन्तु टिलियर्ड के वर्गीकरण और विवेचन का महत्त्व यह है कि उसने अभिधात्मक शैली अर्थात् स्वभावोक्ति शैली के महत्त्व को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। ध्वनिवादियों का वर्गीकरण प्रतीयमान अर्थ की श्रेष्ठता को ही आधार मानकर चला है, जबकि वक्रोक्तिकार मात्र कथन-कौशल को। टिलियर्ड की स्थिति कुछ ऐसी है कि एक तो वह कुन्तक और आनन्दवर्द्धन का मध्यवर्ती हो जाता है, दूसरे वह प्रतीयमान अर्थ पर बल देते हुए भी स्वभावोक्ति-शैली का पूर्ण समर्थक है—उसके महत्त्व की स्थापना करता है।

निष्कर्ष

विभिन्न आधारों पर किये गए काव्य के वर्गीकरण से शैली के आधार पर हुए वर्गीकरण का ही महत्त्व सर्वाधिक है। इस आधार पर काव्य के जितने भेद किये गए हैं, उनमें भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार स्वभावोक्ति एक ऐसी काव्यशैली के रूप में प्रस्तुत होती है जो अलकार प्रधान वक्रोक्ति शैली से भिन्न है और गुण प्रधान है। स्वभावोक्ति शैली के क्षेत्र और शिल्पगत वैशिष्ट्य का उद्घाटन ही हमारी इस पुस्तक का उद्देश्य है। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त वर्गीकरण इस बात को सिद्ध करता है कि भारतीय काव्यशास्त्र स्वभावोक्ति को शैली के रूप में स्वीकार करता है परंतु भारतीय काव्यशास्त्र में कभी भी स्वभावोक्ति की शैलीगत विशेषताओं का विवेचन नहीं किया गया। उसे केवल एक अलकार के रूप में स्वीकार किया गया और उसका अलकारत्व भी पर्याप्त मतभेद का विषय रहा। अतः स्वभावोक्ति के क्षेत्र और शैलीगत विशेषताओं का उद्घाटन करने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में हुए स्वभावोक्ति विवेचन का अनुशीलन करना आवश्यक है, भले ही वह किसी भी रूप में क्यों न हुआ हो। द्वितीय अध्याय में हम इसी विषय को प्रस्तुत करेंगे।

संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति

जैसा कि पिछले अध्याय मे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, भारतीय काव्यशास्त्र मे स्वभावोक्ति को शैली के रूप मे स्वीकार तो किया गया है, परन्तु इस रूप मे उसका विशद और सांगोपांग विवेचन नही मिलता। अधिकाश काव्यशास्त्रियो ने उसको अलकार के रूप मे प्रस्तुत किया है। यह वर्णन अधिकाश स्थानो पर अलकार के रूप मे किया गया है, परन्तु अलकाररूप मे भी यह वर्णन स्वभावोक्ति के नाम के अतिरिक्त जाति, स्वभाव, वार्ता आदि अन्य अनेक नामो से हुआ है। स्वभावोक्ति से इतर दिये गए नाम यद्यपि स्वभावोक्ति अलकार के सही पर्याय नही हैं, परन्तु फिर भी वे स्वभावोक्ति-शैली के विभिन्न तत्वो पर प्रकाश डालते हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र मे होने वाले स्वभावोक्ति विवेचन को ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत करना ही इस अध्याय का उद्देश्य है।

भरत मुनि

भारतीय काव्यशास्त्र मे भरत मुनि को आदि-नाट्यशास्त्री होने का गौरव प्राप्त है। उनके ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' मे स्वभावोक्ति जैसे किसी अलकार या प्रयोग की स्वतन्त्र व्याख्या नही मिलती, परन्तु इसके तत्व दो स्थानों पर मिलते हैं—(१) नाटक की परिभाषा और वर्गीकरण मे, (२) अलकार-विवेचन मे।

नाटक की परिभाषा करते हुए उन्होने इसे नाना प्रकार के भावो से उपसम्पन्न, विविध प्रकार के अवस्थान्तरो मे युक्त तथा लोकवृत्त का अनुकरण करने वाला माना है।[1] उनकी परिभाषा है—लोक के सुख-दुःख से युक्त यह जो स्वभाव है वही अगो आदि के अभिनय द्वारा युक्त होने पर नाट्य कहा

---

१ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ —प्रथम अध्याय, ११२

जाता है।[1] प्रमाण के तीन स्वरूपों—वेद, अध्यात्म और लोक में से उन्होंने नाटक के लिए लोक-प्रमाण को ही प्रमुख माना है। नाटक की रचना लोक-प्रमाण के आधार पर ही की जा सकती है।[2]

नाटकों का वर्गीकरण करते हुए भरत ने उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। इनमें से नाट्यधर्मी नाटक कलात्मक सृष्टि है, चमत्कारोत्पादक और सौन्दर्य-विधायक विधा है, परन्तु लोकधर्मी का सीधा सम्बन्ध लोक-जीवन से है, जीवन के अनुकरण से है। लोकधर्मी नाटकों का आधार लोक-वार्ता अथवा लोक में प्रसिद्ध क्रिया या व्यापार होता है, जिसमें स्थायी, व्यभिचारी आदि भाव ठेठ मानवी स्वभाव से लिये जाते हैं, कवि-कृत अतिरंजनाओं से नहीं। इनमें अनेक स्त्री-पुरुष मिलकर बिलकुल स्वाभाविक रीति से अभिनय करते हैं अर्थात् उठना, गिरना, लड़ना, चिल्लाना, मारना आदि की क्रियाएँ वास्तविक जीवन की अनुकृति के अनुसार करते हैं, प्रतीकात्मक बारीकियों के साथ नहीं।[3]

'नाट्यशास्त्र' में लोक को ही प्रमाण-रूप में स्वीकार करना इस बात की स्पष्ट स्वीकृति है कि भरत नाटक को जीवन के अनुरूप तथा स्वाभाविक बनाने की ओर से पूर्ण सजग थे। उन्होंने क्रिया, व्यापार आदि के अनुकरण को नाटक माना है अतः यह विवेचन स्वभावोक्ति के मूल स्वरूप के निकटस्थ ही है। लोकधर्मी नाट्य में तो क्रियाओं का अनुकरण एकदम दृढ़ता के साथ करने पर बल दिया गया है। अतः इस क्षेत्र में तो भरत एक प्रकार से यही कहते हैं कि स्वभावोक्ति का अभिनय ही नाटक है। वस्तुतः लोकधर्मी और नाट्यधर्मी

---

१ योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
साऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥१ ११९॥

२ लोकवेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम् ॥२६ ११८॥
नाना शीला प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि ज्ञेयं नाट्यं प्रयोक्तृभिः ॥२६ १२६॥
वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दः समन्वितम् ।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं त्विदम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥२६ ११९ १२०॥
धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ६ ७०॥
स्वभावाभावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा ।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ॥ ६ ७१॥
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥ ६ ७२॥

का भेद यह नही है कि एक मे लोक का अनुकरण होता है और दूसरे मे नही। लोक का अनुकरण न होने पर तो वह नाट्य ही नही रह सकता। अन्तर केवल इतना है कि नाट्यधर्मी सभ्य और शिक्षित समाज से सम्बन्धित होने के कारण कलात्मक सृष्टियो के लिए अवकाश से युक्त होता है, जबकि लोकधर्मी मे यह अवकाश नही होता।

भरत ने अलकारो का विवेचन दो रूपो म किया है। वाणी के अलकार के रूप म उन्होंने उपमा, रूपक, दीपक और यमक —चार अलकार माने हैं। इनम स्वभावोक्ति को कोई स्थान नही। दूसरे रूप मे उन्होंने स्त्रियो की यौवनावस्था के २८ अनुभाव माने हैं और उन्हे अलकार शब्द से बोधित किया है। ये तीन प्रकार के होते हैं—अगज, अयत्नज और स्वभावज। हाव, भाव और हेला—ये तीन शारीरिक क्रियाओ से उत्पन्न होते हैं और शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य आदि सात अयत्नज अलकार हैं। ये ईश्वर दत्त मार्क्पण है, अयत्नज हैं। स्वभावज अलकारो की सख्या अठारह है। ये सभी कृति-साध्य हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति आदि स्वभावज अलकारो की परिभाषा को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यद्यपि इनमे से कुछ कृत्रिम हैं और कुछ स्वाभाविक, परन्तु जो कृत्रिम हैं उनका आधार भी मनोवैज्ञानिक है। विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्थितियो मे नायिका किस प्रकार की विभिन्न क्रियाएँ करती है, यह सभी स्वभावजन्य ही है। भरत ने इसे अलकार कहा है अत ये क्रियाएँ स्वभावोक्ति के निकट जा पडती हैं। यदि स्वाभाविक क्रियाओ का शब्दार्थरूप चारु वर्णन ही स्वभावोक्ति है तो हम कह सकते हैं कि भरत के ये स्वभावज अलकार स्वभावोक्ति के ही विषय हैं।

बाण भट्ट

स्वभावोक्ति की स्पष्ट कल्पना सर्वप्रथम हम बाण-कृत 'हर्षचरित' म प्राप्त होती है। वहाँ इसे जाति कहा गया है। बाणभट्ट का प्रयोग इस प्रकार है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टो स्फुटो रस
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

"नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, अक्लिष्ट श्लेष प्रयोग एव स्फुट रस तथा विकट अक्षरो वाला निबन्ध—यह सभी एकत्र प्राप्त होना दुर्लभ होता है।"

यहाँ बाण भट्ट ने जाति को अग्राम्य होना आवश्यक माना है। आगे चलकर दण्डी ने भी जाति शब्द का प्रयोग किया है और उसे चार भागो मे विभक्त किया है—जाति, क्रिया, द्रव्य और गुण।

जाति के भावपक्ष या वर्ण्य-विषय पर विचार करने पर हम यह पाते हैं कि ससार म प्राप्त होनेवाली सभी वस्तुएँ जातिरूप मे प्राप्त होती है और

उनकी सभी विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करना ही जाति है। इसी कारण इसमे किसी भी प्रकार की कल्पना का निषेध करते हुए स्वाभाविकता पर बल दिया गया है। किसी व्यक्ति मे जाति के सभी सामान्य गुणो का होना आवश्यक है, इसी कारण व्यक्ति के स्वभाव-वर्णन को भी जाति कहा गया है। परन्तु व्यक्ति के स्वभाव मे कुछ ऐसे गुण भी होते हैं और हो सकते हैं जो जाति से उसे भिन्न करते हैं। उसका यथातथ्य वर्णन भी तो शैली की दृष्टि से जाति की कोटि का वर्णन है परन्तु उसको हम जाति के अन्तर्गत नही रख सकते। इसी कारण स्वाभाविक वर्णन के लिए स्वभावत जाति शब्द का प्रयोग और अधिक नही हुआ और उसे स्वभावोक्ति का नाम प्रदान किया गया। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि जाति का वर्ण्य-विषय सामूहिक जातिगत विशेषताएँ हैं, व्यक्ति को समूह से अलग करने वाली व्यक्तिगत विशेषताएँ नही।

जहाँ तक जाति के कला-पक्ष का प्रश्न है, बाण द्वारा प्रयुक्त अग्राम्य शब्द इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अग्राम्य से उनका तात्पर्य कुरूप और अकुशल प्रतिपादन से है।

आगे चलकर विद्यानाथ ने स्वभावोक्ति की परिभाषा मे अग्राम्य के स्थान पर चारु शब्द का प्रयोग किया है—'स्वभावोक्ति रसौ चारु यथावद्वस्तु-वर्णनम्' अर्थात् वस्तुओ का यथावत् वर्णन जो चारु तथा रसयुक्त हो, स्वभावोक्ति होता है। यहाँ 'यथावत्' के साथ 'चारु' विशेषण का प्रयोग किया गया है जो अग्राम्य का ही पर्याय है। कुमारास्वामी ने भी चारु शब्द को अग्राम्य का पर्याय माना है।[1] डॉ० राघवन् के अनुसार स्वभावोक्ति के साथ चारुत्व अर्थात् अग्राम्यत्व के विचार को स्वभावोक्ति के साथ सश्लिष्ट रूप मे सम्बद्ध माना है—

This Carutva or Agramyatva are involved in the very conception of Svabhavokti"[2]

अत जाति जो स्वभावोक्ति से अत्यन्त निकटता से सम्बद्ध है वह भी अग्राम्य या चारु के साथ पूर्णत सम्बद्ध है।

चारुत्व जाति का भावात्मक पक्ष है परन्तु डॉ० राघवन् ने इसके अभावात्मक पक्ष पर भी विचार किया है और इसके लिखे जाने के निम्न कारण गिनाए हैं—(१) कवित्व-शक्ति की हीनता, (२) शब्दो मे तीव्र जोश का

---

१ यत्र चारु सम्यगग्राम्यम्। अतएवेद ग्राम्य नालकार इत्युक्त दोष प्रकरणे
प्रतापरुद्र यशोभूषण कुमारास्वामी।

२ Studies of Some Concepts of Alankarshastra—Dr Raghavan, p 93 (foot-note)

अभाव, (३) *यथावत् वर्णन की तीव्र आवश्यकता*, और (४) वस्तुओ को उनके सच्चे स्वरूप मे उद्घाटित करने की मनोवृत्ति ।[१] इन समस्त कारणो से जाति के कलापक्ष के सम्बन्ध मे जो ध्वनि निकलती है वह यह है कि मानो कवि विवश होकर जाति लिखता है और मानो यह उसकी कवित्व-शक्ति की हीनता और प्रतिभा की कमी हो । जाति के सम्बन्ध मे इन सभी विषयो पर हम अपना मत स्वभावोक्ति के कलापक्ष पर विचार करते समय प्रस्तुत करेंगे ।

भामह

भामह की अलकार-कल्पना मे अलकार वह है जो साधारण कथन-विधि से हटकर वक्रतापूर्ण ढग से किसी बात को प्रस्तुत करता है । इस वक्रत्व के अभाव मे किसी भी अलकार की स्थिति नही हो सकती ।[२] इससे विहीन उक्ति को वे वार्ता कहते है—

> गतोऽस्तमर्को भातीन्दु यान्ति वासाय पक्षिणः ।
> इत्येवमादि किं काव्य ? वार्तामेना प्रचक्षते ॥ २ ८७॥
>
> —काव्यालकार

स्वभावोक्ति के बारे मे उनका कथन है—

लक्षण:—

> **स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते ।**
> **अर्थस्य तदवस्थत्व स्वभावो अभिहितो यथा॥ २ ९३॥**

---

१ Jati is the statement of things as they are That is what the ordinary speaker and writer make , poverty of poetic power, absence of a wizard force with words, a sense of bare necessity, an anxiety to state the bare truth with absolute fidelity to facts—these produce a kind of expression which is bare statement of things as they are Ordinary talk, legal expressions and scientific writings are its examples These two ordinary bold talk and technical jargon of science, Laukik and Shastriya expressions are both excluded from the scope of Jati Jati is a poet's statement of natural state of things —Same, p 93

२ न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति ॥१ ३६॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्या कविना कार्यं कोऽलकारोऽनया विना ॥२ ८५॥

—काव्यालकार, भामह

उदाहरण—आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलैर्नुदन् ।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारणीः ॥ २.९४॥
—काव्यालंकार

स्वभावोक्ति और वार्ता सम्बन्धी उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर भामह के सम्बन्ध में डा० राघवन् ने दो प्रश्न उठाए हैं। एक तो यह कि 'गतस्तमर्को ···' आदि में वार्ता शब्द का प्रयोग वार्तालंकार के अर्थ में किया है अथवा साधारणतया ग्राम्य उक्ति के अर्थ में और दूसरा यह कि भामह स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं या नहीं।

वार्ता के सम्बन्ध में मतभेद उठने का कारण यह है कि कहीं वार्तालंकार को स्वभावोक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और कहीं स्वभावोक्ति से भिन्न उसके अलंकारत्व की स्थापना की गई है। जयमंगल ने 'गतस्तमर्को' में वार्तालंकार का उदाहरण माना है। वह वार्ता और स्वभावोक्ति अलंकारों में अन्तर प्रस्तुत करता है। उसका कथन है—

"वार्तेति तत्वार्थ कथनात्। सा विशिष्टा निर्विशिष्टा च। तत्र या पूर्वा स्वभावोक्तिरुदिता, यथैयमेव। तथा चोक्तम्—
स्वभावोक्तिरलंकारः इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थे च स्वभावोऽभिहिते यथा॥
निर्विशिष्टा वार्तानामलंकारः। यथोक्त—"गतोऽस्तमर्को···"

अर्थात् जयमंगल के अनुसार वार्ता नामक अलंकार वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन होता है। यह दो प्रकार का होता है—विशिष्ट वार्ता और निर्विशिष्ट वार्ता। विशिष्ट वार्ता का ही दूसरा नाम स्वभावोक्ति है। इसमें किसी वस्तु का वर्णन होता है जबकि निर्विशिष्ट में प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन होना है। जयमंगल ने इस व्याख्या के लिए 'इत्येवमादि किं काव्य' के स्थान पर 'इत्येवमादिक काव्य' पाठ स्वीकार किया है।

भामह स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं या नहीं, इस विषय में विद्वानों के मत निम्न प्रकार हैं—

(१) डा० एस० के० डे का कथन है—

"When words are used in ordinary manner of common parlance as poeple without a poetic turn of mind use them, there is no special charm or strikingness. Such Svabhavokti or 'Natural' mode of speech to which Dandi is so partial but he also distinguishes from Vakrokti, is not acceptable to Bhamah

who refuse to acknowledge it as a poetic figure at all."[1]

(२) डॉ० पी० वी० काणे ने अपनी History of Sanskrit Poetics मे इस विषय पर कोई प्रकाश नही डाला है। भामह द्वारा वर्णित अलकारो की सूची मे स्वभावोक्ति को भी रखते हुए उसके आगे कोष्ठ मे 'according to some'[2] लिखकर छोड दिया है। इससे प्रश्न के निर्णय मे कोई सहायता नहीं मिलती।

(३) डॉ० शरत् ने अपने ग्रन्थ 'Theories of Rasas and Dhvani' मे यह माना है कि भामह इसे अलकार मानते हैं।[3]

(४) मिस्टर डी० टी० टी० शिरोमणि ने अपने M O L Essay on the Definition of Poetry (in J O R Madras) म लिखा है—

"As is shown above in Bhamahas views all the Alankars other than the one Svabhavokti are governed by the Vakrokti"

(५) डा० राघवन् ने निम्न तर्कों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भामह स्वभावोक्ति को अलकार मानते हैं—

(अ) क्योकि भामह ने उसका वर्णन किया है अत इस पूर्वपक्ष का निराकरण होता है कि उन्होने इसका कोई वर्णन ही नही किया है।

(ब) क्योकि भामह ने लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया है अत यह इस बात का किंचित् प्रमाण है कि उसने इसको अलकार माना है।

(स) भामह को जिस अलकार का खण्डन करना होता है उसके बारे मे स्पष्ट कहते हैं कि—'नालकार तया मत'। हेतु, सूक्ष्म और लेश का खण्डन इस बात का प्रमाण है।

(द) 'इति केचित्प्रचक्षते' इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि वे इसे अलकार नही मानते। इस प्रकार कितने ही अलकारो का वणन किया गया है।

(क) कुन्तक और उद्‌भट के अनुसार भामह ने इसे अलकार स्वीकार किया है। उद्‌भट ने भामह की तरह इसे गिना है और इसकी परिभाषा की है। कुन्तक के 'प्राच्य' मे भामह भी सम्मिलित हैं।

(ख) यदि कुन्तक को थोडा-सा भी इस बात का आभास हो जाता कि भामह ने इसे अलकार नही माना है तो वे पुन अपने मत की पुष्टि म भामह

1 Poetics, P 61 (Vol II)
2 P 78
3 P 22

का उद्धरण प्रस्तुत कर देते। परन्तु ऐसा नही हुआ।

(ग) भामह, दण्डी और रुद्रट के पूर्णत पचा लेने वाले भोज ने इस अलकार के विवेचन मे भामह के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इससे सिद्ध होता है कि भोज के मत मे भी भामह स्वभावोक्ति को अलकार मानते हैं।

डॉ० एस० के० डे को उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि—

(अ) हम भामह से कोई भी ऐसा उद्धरण प्रस्तुत नही कर सकते कि जिसमे स्वभावोक्ति का खण्डन किया गया हो।

(ब) कुन्तक के साथ भामह को नही मिलाया जा सकता क्योंकि उसने स्पष्टत. स्वभावोक्ति का खण्डन किया है।

(स) दण्डी द्वारा इसे आद्यालकृति कहना इसके प्रति कोई पक्षपात नही है। उसका अर्थ केवल इतना ही है कि जहाँ से वक्रता प्रारम्भ होती है वहाँ स्वभावोक्ति सर्वप्रथम आती है—

> "Where Vakrokti rises gradually, Svabhavokti stands first or at the bottom involving least Vakrata"

डॉ० वी. टी. शिरोमणि की आलोचना करते हुए उन्होने लिखा है—

> "Mr Tattacharya has, it seems, committed an excess while trying to prove that Bhamah accepted Svabhavokti × × × consequently Mr Tattacharya views that Bhamah also, like Dandin, has classified Vanmaya into two classes, Svabhavokti and Vakrokti × × × This is Dandin's view not Bhamaha's"
>
> —Some Concepts on Alankarshastra, pp 102-103

उपर्युक्त सभी मतो के अवलोकन के पश्चात् हमारा स्वय का विचार यह है कि भामह स्वभावोक्ति के सम्बन्ध मे अपने-आप मे अस्पष्ट हैं। उनकी मूल विचारधारा और कृति के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि वे स्वभावोक्ति को अलकार मानते हैं। डॉ० राघवन् का हम निम्नलिखित तर्कों के आधार पर विरोध करते हैं—

(अ) भामह द्वारा स्वभावोक्ति का वर्णन करना इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि वे इसे अलकार मानते थे। इसके द्वारा दूसरो का मत उद्धृत करना ही उनका उद्देश्य था।

(ब) 'इति केचित्प्रचक्षते' द्वारा ही यह बात सिद्ध होती है कि वे इसे अलकार नही मानते। स्वभावोक्ति के अतिरिक्त केवल 'आशी' ही ऐसा अलकार है जिसका वर्णन करते हुए इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इन दोनों ही अलकारो के बारे मे भामह के विचार निर्भ्रान्त नही हैं।

(ग) भामह ने 'काव्यालकार' मे केवल एक ही स्थान पर 'नालकार

तया मत ' का प्रयोग किया है और वह हेतु, सूक्ष्म और लेश के प्रसग मे। अत. केवल इसी से यह सामान्य निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि उनके खण्डन की प्रणाली एकमात्र यही है। 'केचित्प्रचक्षते' भी एक खण्डन-प्रणाली हो सकती है। 'कुछ का मत है' से यही ध्वनि निकलती है कि 'मेरा नही' साथ ही जिसको वे अलकार मानते हैं वहाँ ऐसी कोई भी सन्दिग्ध शब्दावली का उपयोग नही करते।

(द) यह कहना ठीक नही कि उद्भट ने यह माना है कि भामह इसे अलकार मानते हैं। उन्होने भामह की तरह इसे गिना नही है वरन् अलकार माना है। तृतीय वर्ग म रखकर इसका लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया है। साथ ही कुन्तक के 'प्राच्य' म भामह को भी सम्मिलित कर लेना एक प्रकार की जबर्दस्ती है।

(क) यह कोई तर्क नही कि यदि भामह द्वारा स्वभावोक्ति का खण्डन हुआ होता तो कुन्तक अवश्य उद्धृत करते। यदि यह ठीक माना जाय तो भामह ने वक्रोक्ति का जो स्पष्ट समर्थन किया है और उसे सभी अलकारो का मूल माना है उसको भी कुन्तक द्वारा 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे उद्धृत किया जाना चाहिए था परन्तु कुन्तक ने कही भी भामह को उद्धृत नही किया है।

(ख) भोज द्वारा भामह का मत प्रस्तुत किया जाना भी इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि भामह उसको अलकार मानते थे। भोज का विवेचन इतना अधिक उलझा हुआ है कि उससे कोई भी सामान्य निष्कर्ष नही निकाला जा सकता।

वास्तव मे भामह के लिए काव्य और अलकार पर्यायवाची है और वक्रोक्ति अलकार का प्राण है। अत उनके द्वारा स्वभावोक्ति को अलकार स्वीकार किया जाना सगत नही बैठता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने स्वभावोक्ति का स्पष्टत खण्डन क्यो नही किया ? इसके लिए तो स्वभावोक्ति-वादी किसी प्रबल परम्परा का ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। ऐसी किसी चली आती हुई परम्परा की कल्पना असगत नही है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति का जिस प्रबलता के साथ खण्डन किया है उसका आधार, मात्र दण्डी आदि का स्वभावोक्ति-वर्णन नही हो सकता। निश्चित ही भामह, उद्भटादि की अलकारवादी कल्पना किसी स्वभाववादी विचारधारा की प्रतिक्रिया-रूप खडी हुई होगी और जिस प्रकार स्वभावोक्ति का पूरी तरह से विरोध करने के बाद भी कुन्तक उसकी महत्ता को अस्वीकार न कर सके उसी प्रकार अलकारवादी भी इस विचारधारा का प्रभाव अपने ऊपर स पूर्णत न हटा सके और 'केचित् प्रचक्षते' कहना ही पडा।

अत हमारा मत है कि भामह स्वभावोक्ति के अलकारत्व के सम्बन्ध मे

कोई स्पष्ट मत नहीं रखते। उनका झुकाव इसे अस्वीकार करने की ओर ही अधिक है।

दण्डी

भामह के उपरान्त दण्डी में हमें स्वभावोक्ति का वर्णन मिलता है। दण्डी ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में द्वितीय परिच्छेद में ८-१३ कारिकाओं में स्वभावोक्ति-निरूपण कर उसको अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनका स्वभावोक्ति का लक्षण इस प्रकार है —

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥[1]

"भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के रूप को प्रत्यक्ष करके दिखलाने वाली अलंकृति स्वभावोक्ति या जाति के नाम से पृथित है। यह आद्य अलंकार है।"

उनके अनुसार प्रत्येक अलंकार के लिए अपेक्षित चमत्कार-तत्त्व इस अलंकार के लिए भी अपेक्षित है।[2] दण्डी ने इस अलंकार के चार भेद प्रस्तुत किये हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। दण्डी ने इनके निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

जाति — तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरित कोमलैः
त्रिवर्ण राजिभिः कण्ठैरेते मंजुगिरः शुकाः ॥२.९॥

"चोंच लाल तथा टेढ़ी है, पंख हरे और कोमल हैं और गले में तीन वर्णों की नील, रक्त, धूसर वर्णन की रेखाएँ शोभायमान हैं। ऐसे यह सुग्गे बहुत मधुर वाणी बोलते हैं।" इस पद्य में लाल चोंच आदि धर्म शुक जाति का है अतः यह जातिगत स्वभावोक्ति हुई।

क्रिया— कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥२.१०॥

---

१. काव्यादर्श, दण्डी, २.८

२. अलंकारसामान्येऽपेक्षितम् चमत्कारतत्त्वं त्वत्रापि निश्चयेनापेक्षितम्,
अतएव—दीर्घपुच्छश्चतुष्पाद ककुद्माँल्लम्बकम्बलः।
गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः॥
इत्यादौ नायमलंकारः अलंकारजीवनीभूतचमत्कारस्यानुपलम्भात्।

अर्थात् अलंकार के लिए सामान्यतः अपेक्षित चमत्कार यहाँ भी निश्चय रूप से अपेक्षित है। 'दीर्घ पुच्छ' इत्यादि में अलंकार के जीवनभूत चमत्कार के अभाव में (स्वरूप वर्णन होने पर भी) अलंकार नहीं है।

"कण्ठ के भीतर-भीतर मधुर ध्वनि करता हुआ तथा आँखों को तिरछी किये हुए यह रमणाभिलाषी कपोत पीछे से आकर अपनी प्रिया कपोती का चुम्बन करता है।" यहाँ पर कण्ठ में मधुर भाषणादि सभी वर्ण्यमान धर्म पारावत कर्तृक चुम्बन क्रिया के हैं। अतः यह क्रियागत स्वभावोक्ति अलंकार हुआ।

गुण — वध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्च कुर्वन् मनसिनिर्वृतिम्।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥२ ११॥

"शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न करता हुआ, मन में सुख का संचार करता हुआ और आँखों को सुखानुभव से निमीलित करता हुआ यह प्रिया-स्पर्श प्रवृत्त हो रहा है।" यहाँ प्रिया-स्पर्शरूप गुण की स्वभावोक्ति है।

द्रव्य — कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दु शेखरः।
जटाभि स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः ॥२ १२॥

"विषपान करने के कारण काले कण्ठ वाले, हाथ में कपाल धारण करने वाले चन्द्रमौलि तथा वृषध्वज शिवजी कोमल तथा ताम्रवर्ण जटा के साथ प्रकट हुए।" यहाँ पर कण्ठे कालत्वादि सकल धर्म शिवरूप व्यक्ति के हैं। अतः इसे द्रव्य स्वभावोक्ति कहते हैं।

दण्डी के स्वभावोक्ति-वर्णन में दो शब्दों की व्याख्या पर कुछ मतभेद रहा है। एक तो 'नानावस्थ' और दूसरा 'साक्षाद्विवृण्वती'। 'काव्यादर्श' की रामचन्द्र मिश्र कृत टीका में टिप्पणी दी गई है कि "स्वभावोक्ति के लक्षण में दण्डी ने 'नानावस्थ' कहा है जिससे व्यक्त होता है कि किसी वस्तु की एकावस्थता का वर्णन किया जाय तो स्वभावोक्ति नहीं हो पायगी। जैसे—'अम्भोद मुदितं दृष्ट्वा मुदा नृत्यन्ति बर्हिणः।' इस वाक्य में मेघ की एकावस्थता का वर्णन होने से अलंकार नहीं होता।"[1] 'नानावस्थ' की यह व्याख्या अनपेक्षित है। पदार्थों की नानावस्थाएँ यदि सौन्दर्य को प्रस्तुत कर सकती हैं तो एक क्यों नहीं? पदार्थ की किसी एक अवस्था का चमत्कारी वर्णन भी काव्य में सौन्दर्य उपस्थित करता है। दूसरे, दण्डी द्वारा प्रस्तुत सभी उदाहरणों में हमें एकावस्था का वर्णन ही मिलता है, नानावस्थाओं का नहीं। दण्डी ने इसका प्रयोग केवल इसी अभिप्राय से किया है कि एक ही पदार्थ की अनेक ऐसी स्थितियाँ हो सकती हैं, जिनके सौन्दर्य का उद्घाटन किया जा सकता है। हृदयंगम टीका में इसका अर्थ लिया गया है कि एक ही पदार्थ की अनेक अवस्थाओं का या अनेक पदार्थों की अनेक अवस्थाओं का स्वाभाविक वर्णन स्वभावोक्ति है। परन्तु यह एक

---

1. काव्यादर्श, हिन्दी टीका, रामचन्द्र मिश्र, पृ० ७८

अशुद्ध व्याख्या है। डॉ० राघवन् भी इस अर्थ के पक्ष मे नही हैं।[1]

तरुण वाचस्पति ने 'साक्षाद्विवृण्वती' का अर्थ किया है—'प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती' अर्थात् प्रत्यक्ष सा दिखाती हुई। परन्तु हृदयगम टीका म इसका अर्थ किया गया है 'अव्याजेन' अर्थात् प्रकृत रूप म। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'दूसरा अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योकि एक तो उदाहरणो म सजीवता की अपेक्षा अव्याजता ही अधिक है और दूसरे दण्डी ने स्वभावोक्ति का वक्रोक्ति से पृथक् माना है।'[2] हमारे विचार से 'प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती' और 'अव्याजेन' दोनो की ध्वनि एक ही है। किसी वस्तु का साक्षात् सजीव चित्र तो तभी उपस्थित होगा जब वह अनारोपित रूप म प्रकृत रूप म वर्णित होगी। यदि वर्णन बिम्बो अथवा अप्रस्तुत विधान के माध्यम से होगा तो हमारे मानस-चक्षु पर अप्रस्तुत बिम्बो का प्राधान्य होगा और वस्तु का प्रत्यक्षमिव वर्णन नही हो सकेगा। अत ये दोनों ही अर्थ एक ही ध्वनि उपस्थित करते हैं। जहाँ तक उदाहरणों म अव्याजता के आधिक्य की बात है, हमारा विनम्र निवेदन यह है कि स्वभावोक्ति के प्रबल समर्थक होने पर भी दण्डी उसके साधारण उदाहरण ही प्रस्तुत कर पाये है।

दण्डी ने केवल एक ही स्थान पर—कान्ति-गुण के वर्णन मे ही वार्ता शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्वभावोक्ति से कोई सम्बन्ध नही है। उसे इतिहास-वर्णन के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है।

उद्भट

उद्भट का स्वभावोक्ति-लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है—

लक्षण— क्रियाया सम्प्रवृत्तस्य हेवाकाना निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादे स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥

---

1 The anonymous *gloss on the Kavyadarsh* in N S Edn has a strange comment *on नानावस्थ* in Dandin's definition of Svabhavokti *It says that* according to some who base themselves *on this* condition of *Nanavastha' only* a description of an object in several states *or of several* objects in *several states* constitute *Svabhavokti and* not the description of an object in a single state *This too* literal an interpretation of Dand n *is not* justifiable' —Studies in Some Cencepts of Alankarshastra *by Dr* V Raghavan, foot note on p 103

२ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३२१

उदाहरण— क्षण नष्ट्वाऽवंवलित शृगेणाप्रेक्षणनुदन् ।
लोली करोति प्रणयादिमामेष मृगार्भक ॥

यहाँ निरीक्षण योग्य बात यह है कि उद्भट न स्वभावोक्ति को दण्डी के व्यापक अर्थ से हटाकर मृगडिम्भादि की क्रियाओ के वर्णन तक ही सीमित कर दिया है। स्वभावोक्ति के क्षेत्र को सकुचित कर देने का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नही हो सकता कि मृगशावकादि की क्रियाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक होती है तथा कवि के लिए उनका यथातथ्य वर्णन सरलता से सम्भव है। कहा नहीं जा सकता कि दण्डी के सविस्तार वर्णन के उपरान्त उद्भट तथा उन्हीं की तरह मम्मटादि ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र क्यो सकुचित कर दिया। फिर भी उद्भट का इतना महत्व तो है ही कि उसने स्वभावोक्ति को स्पष्टत अलकार माना और उसको तृतीय वर्ग म स्थान दिया।

डॉ० नगेन्द्र का मत है कि मृगशावकादि की लीला का प्रयोग साकेतिक रूप से प्राकृतिक व्यापार के व्यापक अर्थ म ही किया गया है। फिर भी स्वभावोक्ति की परिधि सकुचित तो हो ही जाती है, क्योकि उससे मानव-व्यापार का सर्वथा बहिष्कार भी समीचीन नही माना जा सकता।[1]

रुद्रट

रुद्रट ने सभी अलकारो को चार भागो म विभक्त किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इनम वास्तव वर्ग के अलकारो म वे अलकार रखे हैं जो वस्तुओ के अनारोपित यथावत् वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इनम साधर्म्य विरोध या अतिशय और श्लेष के आधार पर स्वरूप सामने नही आता वरन् स्वत बिना किसी आरोप के वस्तु प्रकृत रूप म हमारे सामने आती है। यह स्वरूपानुभव भावना का विषय नहीं, दृष्टि का विषय है। इस अनुभव को कराने वाला अर्थात् वस्तु के साक्षात् सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाला अर्थ पुष्टार्थ कहलाता है। यदि किसी वर्णन म इस प्रकार का गुण नहीं है तो वह अपुष्टार्थ है। वास्तव वर्ग के सभी अलकार इसी पुष्टार्थ पर आधृत हैं। रुद्रट का कथन इस प्रकार है—

वास्तवमिति तज्ज्ञेय क्रियते वस्तुस्वरूपकथन यत् ।
पुष्टार्थमविपरीत निरुपमनतिशय अश्लेषम् ॥

—काव्यालकार ७ १०

इन्होंने इसी वास्तव वग म स्वभावोक्ति का जाति के नाम से स्थान दिया है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

---

१ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३२१

संस्थानावस्थान—क्रियादि—यद्यस्य यदृश भवति।
लोके चिर प्रसिद्ध तत्कथनमयथा जाति ॥७ ३०॥
शिशु मुग्ध युवति कातर—तिर्यक् सम्भ्रान्तहीन पात्राणाम्।
सा कालोवस्योचित—चेष्टा सु विशेषतो रम्या ॥७ ३१॥

रुद्रट के टीकाकार नमि साधु ने जाति और पुष्टार्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—'जातिस्तु अनुभव जनयति। यत्र परस्य स्वरूप वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैतीतिस्थितम्'—अर्थात् जाति म वस्तु-स्वरूप का ऐसा वर्णन होता है कि वह श्रोता के मन म अनुभव सा उत्पन्न कर देता है। जो रूप अनुभव म परिणत हो जाता है वही रमणीय है और वही पुष्टार्थ है। रुद्रट के अनुसार वास्तव और जाति म केवल यही अन्तर है। वास्तव म किसी वस्तु का मात्र विवरणात्मक वर्णन होता है। रुद्रट द्वारा प्रयुक्त यह पुष्टार्थ शब्द बाण के 'अग्राम्य' और दण्डी के 'साक्षाद्विवृण्वती' के समकक्ष है। यह शब्द अपेक्षाकृत अधिक शास्त्रीय और पारिभाषिक है।

वामन

वामन ने स्वभावोक्ति नाम के किसी भी अलकार को अपने अलकार-वर्णन म स्थान नही दिया है परन्तु वह वस्तु के स्वाभाविक वर्णन के महत्त्व की ओर से उदासीन नहीं है। वह उसकी गरिमा को स्वीकार करता है। वे इस प्रकार के वर्णन को गुणो म स्थान देते हैं। अर्थव्यक्ति नामक अर्थ-गुण के अन्तर्गत वस्तु-स्वभाव की स्पष्टता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्ति ।२,३,१४।
वस्तूना भावाना स्वभावस्य स्फुटत्व यदसावर्थव्यक्ति ।

यथा—

पृष्ठेषु शखशकलच्छविषुच्छदाना।
राजीभिरक्तिमलक्तक लोहिनीभि ॥
गोरोचनाहरितबभ्रु बहि पलाश।
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥

यथा वा—

प्रथममलसै पर्यस्ताग्रं स्थित पृथुकेसरं।
विरलविरलैरन्त पत्रैर्मनाङ् मिलित तत ॥
तदनु वलनामात्र किंचिद व्यधायि बहिर्दलं।
मुकुलनविधौ वृद्धाब्जाना बभूव कदर्थना ॥[1]

"वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता अर्थव्यक्ति कहलाती है। वस्तुओ

[1] काव्यालकार सूत्रवृत्ति, वामन, हिन्दी अनुवाद पृ० १५६ १५७

अर्थात् वर्ण्य-पदार्थों के स्वभाव की जो स्पष्टता है वह अर्थव्यक्ति नामक अर्थ गुण है।"

आचार्य विश्वेश्वर ने इस पर टीका करते हुए लिखा है—"समस्त विशेषताओं का वर्णन कर देने से अर्थ की जो करतलामलकवत् स्पष्ट प्रतीति होने लगती है उसे अर्थव्यक्ति कहते हैं।"

जहाँ तक लक्षण का प्रश्न है वामन ने अर्थव्यक्ति अर्थ गुण की जो परिभाषा दी है उसे हम स्वभावोक्ति अलंकार की परिभाषा मान सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि पुष्टार्थ अथवा अग्राम्य या साक्षाद्विवृण्वती जैसा कोई शब्द प्रयोग नहीं किया है। परन्तु उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण को हम स्वभावोक्ति का उदाहरण नहीं मान सकते क्योंकि इसमें किया गया कुमुद-वर्णन निर्व्याज वर्णन नहीं है। शख के टुकड़े तथा अलक्तक आदि की उपमा के माध्यम से आरोपित वर्णन द्वारा कुमुद को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु द्वितीय उदाहरण में कई दिन तक खिलकर गिरे पुराने पड़ गये कमलों के मुरझाने का वर्णन अव्याज रूप में प्रस्तुत है—

"पहले (सूर्योदय के समय अलस) शक्तिहीन बड़ी-बड़ी (कमलों की) केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया है, उसके पश्चात् अत्यन्त विरली-विरली पखुड़ियाँ एक-दूसरे से मिलीं। इसके पश्चात् फूल की बाहरी पखुड़ियाँ केवल तनिक-सी मुड़कर रह गईं। (पूरी बन्द न रह सकीं इस प्रकार) बन्द होने की क्रिया में पुराने कमलों की बड़ी कदर्थना हुई।"

यह वर्णन पूर्णतया स्वभावोक्ति का विषय हो सकता है और है भी। परन्तु प्रथम उदाहरण में अप्रस्तुत की योजना मिलती है। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि अर्थव्यक्ति अर्थ गुण में वे स्वभावोक्ति से इतर कुछ कहना चाहते हों या वस्तु के स्वभाव-वर्णन की उनको स्पष्ट कल्पना न हो। अत यह भी सम्भव हो सकता है कि उदाहरण देते समय वे कुछ असावधानी के कारण प्रथम उद्धरण प्रस्तुत कर गये हों।

कुछ भी हो, यह बात निश्चित है कि वामन को काव्य में स्वाभाविक वर्णन केवल स्वीकार ही नहीं है वरन् उन्होंने उसको एक गुण के रूप में स्थान देकर महत्त्व भी प्रदान किया है।

कुन्तक

वामन के उपरान्त राजनक कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में स्वभावोक्ति पर विचार किया है। अपने प्रतिपाद्य की उपादेयता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही स्वभावोक्ति का खण्डन किया है—

यथातत्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ।
यदि तन्नाद्भुत नाम दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥२॥
स्वमनीषिकयैवाथ तत्वं तेषा यथा रुचि ।
स्थाप्यते प्रौढ़िमात्र तत्परमार्थो न तादृशः ॥३॥

"यदि ससार के पदार्थों को वास्तविक रूप से निरूपित किया जाय तो (ग्रापके पूर्वोक्त मगल श्लोक मे कहा हुग्रा वैचित्र्य या) ग्रद्भुत (नामक) कोई पदार्थ नही है। ढाक के फूल स्वभावतः लाल होते हैं। (उसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थों का सौन्दर्य) स्वाभाविक ही होता है।

"वक्रोक्ति के प्रेमी ग्रपनी बुद्धि से कल्पना करके ही ग्रपनी रुचि के ग्रनुसार उन (पदार्थों) के स्वरूप (तत्त्व) की स्थापना करते हैं तो यह उनका प्रौढ़िवाद (जबर्दस्ती) है। वास्तविक ग्रर्थ वैसा नही है। ग्रतः वक्रोक्तिवादी या वैचित्र्यवादी दृष्टिकोण यथार्थ नही है। स्वभावोक्तिवादी सिद्धान्त ही यथार्थ है।"[1]

स्वभावोक्ति के इस पूर्व-पक्ष का वर्णन करने के वाद ग्रागामी दो श्लोकों मे वे इस पूर्व-पक्ष का निराकरण कर ग्रपने वक्रोक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं—

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥४॥
येन द्वितयमप्येतत् तत्वनिर्मितलक्षणम् ।
तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥५॥

"स्वभावोक्तिवादियो के इस प्रकार के स्वतत्र (ग्रहेतुक, ग्रप्रामाणिक ग्रथवा स्वतत्र ग्रपने शास्त्र, साहित्यशास्त्र, मे स्वभावोक्तिवाद की ग्रोर से किये गए) ग्रनुचित तर्क सन्दर्भों की परवाह न करके मै (ग्रपने सिद्धान्त के ग्रनुसार) साहित्यार्थ रूप सुधा के सागर (साहित्यशास्त्र) के सार (भूत वक्रोक्ति) सिद्धान्त को प्रकाशित करने के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण करता हूँ।

"जिस (ग्रन्थ) से (इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ग्रर्थात् वक्रोक्ति रूप ग्रभिनव) तत्त्व की स्थापना (निर्मिति) ग्रौर (उसका प्रतिपादक यह लक्षण ग्रर्थात्) ग्रन्थ दोनो ही उसको समझने वाले सहृदय विद्वानो को ग्रद्भुत ग्रानन्द (ग्रथवा ग्रद्भुत ग्रर्थात् वैचित्र्य या वक्रता का ग्रामोद ग्रर्थात् सौन्दर्य) ग्रौर चमत्कार प्रदान करेंगे।"[2]

इस प्रकार कुन्तक के ग्रन्थ का प्रारम्भ पढते ही यह बात स्पष्ट हो जाती

---

१ हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथम उन्मेष, ग्रन्तश्लोक क्र० २, ३, पृ० २
२ वही, प्रथमोन्मेष, ग्रन्तश्लोक ४, ५

है कि वे सिद्धान्तरूप में स्वभावोक्ति के विरोधी हैं और उसके विरोध में ही अपने वक्रोक्तिवाद की स्थापना सफल समझते हैं। उनका यह खण्डन केवल प्रारम्भ में ही आकर समाप्त नहीं हो गया है। आगे चलकर प्रथमोन्मेष में ही कारिका ११ से १६ तक उन्होंने स्वभावोक्ति अलंकार का बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से खण्डन किया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकार्य क्या रह जाता है? स्वभावोक्ति यदि अलंकार है तो उस स्वभाव-वर्णन से भिन्न शरीर स्थानीय वस्तु कौन सी होगी—

'*जिन अलंकारवादी आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति भी अलंकार्य है उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है? उसको अलंकार मान लेने पर अलंकार्य किसे कहेंगे? अतः अलंकार्य भूत स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं।*

"*जिन आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है अर्थात् जो पदार्थ के (स्वरूपाधायक) धर्मभूत स्वभाव की युक्ति अर्थात् कथन वही (जिनको) अलंकार प्रतीत होता है व विवेचन शक्ति से रहित (सुकुमार बुद्धि) होने से (अलंकार और अलंकार्य के) विवेक का कष्ट नहीं उठाना चाहते। (यदि उसकी विवेचना का कष्ट करें तो उन्हें विदित हो जाय कि स्वभावोक्ति अलंकार नहीं, अलंकार्य है क्योंकि स्वभावोक्ति इस (शब्द) का क्या अर्थ है? स्वभाव ही का वर्णन होने पर स्वाभावोक्ति कही जा सकती है। यही स्वभावोक्ति शब्द का अर्थ हुआ। वह स्वभाव-वर्णन ही यदि अलंकार है तो फिर स्वभाव-वर्णन से भिन्न काव्य के शरीर स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत में अलंकार्य अर्थात् विभूष्यत्वेन स्थित हो। स्वभावोक्ति से पृथक् अपनी सत्ता को प्राप्त करे। अर्थात् और कुछ नहीं है (जिसे अलंकार्य कहा जा सके।)*"[1]

स्वभाव-वर्णन अलंकार्य है, अलंकार नहीं—इसी बात को कुन्तक ने १२-१३ कारिका में एक भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

"*स्वभावोक्ति को अलंकार मानोगे तो उससे भिन्न कुछ अलंकार्य होगा। (परन्तु उस) स्वभाव के (स्वरूप-कथन के) बिना वस्तु का वर्णन (कथन) सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि उस स्वभाव से रहित वस्तु (शश, विषाण,*

---

१ अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥

येषां अलंकारकृतामलंकारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः, या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा, सैवालंकृतिरलंकरणं प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः। यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः। स्वभाव एवोच्यमानः। स एव यद्यलंकारस्तत्किमन्यत् तदव्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलंकार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति। न किंचिदित्यर्थः॥

—वही, कारिका ११, वृत्ति

बध्यापुत्र के सदृश) तुच्छ, असत्कल्प (निरुपाख्य) हो जाती है।"

"(स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर स्थानीय है) वह शरीर ही यदि (स्वभावोक्ति नामक) अलकार हो जाय तो वह 'स्वभावोक्ति अलकार' दूसरे किस अलकार्य को अलकृत करेगा? (स्वरूप ही अलकार्य और स्वभावोक्ति ही अलकार हो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि ससार में) कही कोई स्वय अपने कधे पर नहीं चढ सकता।"[1]

इन्ही दोनो कारिकाओ की व्याख्या में कुन्तक पहले तो पूर्व-पक्ष द्वारा अपने ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष की छठी कारिका[2] के आधार पर इस आपत्ति की कल्पना करते हैं कि पहले तो हमने यह स्थापित किया है कि अलकार और अलकार्य के विभाग से रहित सालकार शब्दार्थरूप वाक्य से भिन्न उसके अवयव-भूत पदो की स्वतत्र वास्तविक स्थिति नहीं होती, फिर भी प्रकृति, प्रत्यय, क्रिया, कारक आदि का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से विभाग किया जाता है उसी प्रकार अलकार और अलकार्य की अलग परमार्थिक स्थिति न होने पर भी भेद-विविक्षा में अलकार और अलकार्य का भेद किया जा सकता है। यह भेद विवेचन के लिए आवश्यक है अतः स्वभावोक्ति के समर्थन की आपत्ति निर्मूल ठहरती है।

यही पर कुन्तक बारहवी कारिका की व्याख्या में स्वभावोक्ति के अलंकारत्व के विषय में यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि इसको अलकार मान लिया जाय तब तो गाडी हाकने वालो के वाक्यों में भी सालकारता (अतएव काव्यता) प्राप्त होने लगेगी। परन्तु गाडीवान आदि व्यक्तियो की भाषा को अलकार नहीं माना जा सकता। अत. प्रकारान्तर से स्वभावोक्ति के अलकारत्व का खण्डन होता है।

कुन्तक की अगली आपत्ति यह है कि यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लिया जाय कि स्वभावोक्ति अलकार है तो उपमा आदि अलकारो को स्थान मिलने पर दो ही स्थितियाँ सम्भव हो सकती हैं कि या तो उपमादि तथा स्वभावोक्ति का भेदज्ञान स्पष्ट होगा अथवा अस्पष्ट यदि यह ज्ञान स्पष्ट है तो वहाँ ससृष्टि अलकार होगा और यदि अस्पष्ट है तो सकर अलकार। इन दोनो ही स्थितियो में उपमा आदि अलकारो की स्वतत्र स्थिति के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। इस आपत्ति का निराकरण क्या होगा?

---

१ स्वभाव व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहित यस्मान्निरुपाख्य प्रसज्यते ॥१२॥
शरीर चेदलकार किमलकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मन स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति ॥१३॥
—हिंदी वक्रोक्तिजीवितम् प्रथम उन्मेष, पृ० ५५

२ अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्व सालङ्कारस्य काव्यता ॥६॥

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे
भेदाववोध प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१४॥
स्पष्टे सर्वत्र ससृष्टिरस्पष्टे सकरस्तत. ।
अलकारान्तराणा च विषयो नावशिष्यते ॥१५॥[1]

कुन्तक के उपर्युक्त स्वभावोक्ति-विवेचन का साराश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१ उनके अनुमार स्वभाव का वर्णन काव्य का वर्ण्य-विषय है, अलकार नहीं।

२ स्वाभाविक वर्णन मात्र, काव्य नही हो सकता, उसके लिए वक्रता नामक तत्त्व की अपेक्षा है।

३. यदि वर्ण्य-विषय को ही अलकार मान लिया जाय तो अलकार्य नामक वस्तु क्या होगी ?

४ यह नही कहा जा सकता कि जो अलकार है वही अलकार्य भी होगा, क्योंकि कोई भी स्वय अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता।

५ अलकार का अलकार्य-अलकार विभाग सिद्धान्तरूप मे स्वीकार नही किया जा सकता परन्तु व्यवहाररूप मे वर्णपद-न्याय से वह ग्रहणीय है।

६ यदि स्वभावोक्ति को अलकार मान लिया जाय तो हमे गाडीवान आदि के कथनो को भी, स्वभावोक्ति अलकार की उपस्थिति के कारण काव्य मानना होगा जो एक असगत बात है।

७. यदि स्वभावोक्ति को अलकार मान लिया जाय तो उपमादि शुद्ध अलकारो के लिए कोई क्षेत्र ही नही रह जाता है।

उपर्युक्त विवचन से यह तो एकदम स्पष्ट है कि कुन्तक स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते। परन्तु प्रश्न यह भी है कि वे उसे काव्य मानते हैं या नही ?

इस प्रश्न पर विचार करते समय यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि कुन्तक से पूर्व स्वभावोक्ति के एकमात्र प्रबल प्रवर्तक दण्डी ही हैं जिन्होने शास्त्र मे भी इसका साम्राज्य माना है। परन्तु दण्डी का स्वभावोक्ति-विवेचन इतना पुष्ट नही माना जा सकता कि जिसके खण्डन के लिए कुन्तकाचार्य जैसे पडित को 'वक्रोक्तिजीवितम्' की रचना करने के लिए बाध्य होना पडा हो। जैसा कि हम अन्यत्र कह चुके हैं कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' पूर्वकाल से चली आती हुई किसी अत्यन्त सबल स्वभावोक्ति-धारा के खण्डन के हेतु से रचा गया था। यदि ऐसा न होता तो कम से कम कुन्तक अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ तो

१ हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष कारिका १४, १५, पृ० ५६ ५७

खण्डनात्मक वृत्ति को लेकर न करते। 'जिस प्रकार ढाक का फूल लाल होता है, उसी प्रकार संसार का समस्त सौन्दर्य स्वाभाविक होता है।' यह स्थापना तथा उदाहरण यदि किसी स्वभावोक्तिवादी के न होकर कुन्तक द्वारा स्वयं प्रणीत भी हो, तो भी इसमें परम्परा से चली आती किसी स्वभावोक्तिवादी धारा का ही मण्डन है। इस धारा का अनुमान ही लगाया जा सकता है क्योंकि भामह से पूर्व का कोई भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

सम्पूर्ण 'वक्रोक्तिजीवितम्' के अध्ययनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुन्तक ने स्वभावोक्ति का खण्डन अवश्य किया है परन्तु यह खण्डन स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का है, न कि उसके काव्यत्व का। उन्होंने यथावत् वर्णन की गरिमा को स्वीकार करके वस्तु-वक्रता के रूप में उसका वर्णन किया है—

"(वर्णनीय पदार्थ रूप) वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन (वाच्य) अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।"[1]

इस कारिका के वृत्ति-भाग में वे स्पष्टतः कहते हैं कि वस्तु का इस प्रकार का स्वभाव-रूप वर्णन वस्तुतः वक्रता का ही सौन्दर्य है क्योंकि इसमें उदार स्वभाव का मनोरम रूप से वर्णन होता है। 'उदार अर्थात् उत्कर्षयुक्त सर्वातिशायी (सुन्दरता में सभी का अतिक्रमण कर जाने वाला) जो (पदार्थ का) अपना व्यापार अर्थात् स्वभाव-महिमा, उसका जो सुन्दरत्व अर्थात् सुकुमारता का अतिशय, उससे अर्थात् अत्यंत रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त रूप से, वर्णन अर्थात् प्रतिपादन (वाच्य-वक्रता कहलाती है)।'[2] इस वक्रता के आने का कारण ऐसा शब्द-प्रयोग होता है जो कवि-विवक्षित अर्थ को समर्पण करने में समर्थ होता है। इस वर्णन में उपमादि अलंकारों का उपयोग नहीं होता क्योंकि वैसा करने से स्वाभाविक सौन्दर्य में मलिनता आने का भय रहता है। कुन्तक स्वभावोक्ति पक्ष की इस शंका की कल्पना करते हैं कि वस्तु के सामान्य धर्म को हम अलंकार्य कह सकते हैं और उसके सातिशय वर्णन को अलंकार और इस प्रकार स्वभावोक्ति के अलंकारत्व में कोई बाधा नहीं रहती, अतः वाच्य-वक्रता स्वभावोक्ति अलंकार से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। इस आपत्ति के निराकरण के लिए कुन्तक दो तर्क प्रस्तुत करते हैं—

१. जो काव्य सहृदयों को आह्लाद देने वाला है उसका अलंकार्य भी

---

१ उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥

—वक्रोक्तिजीवितम, तृतीय उन्मेष, कारिका १

२ हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, तृतीयोन्मेष, कारिका १ का वृत्ति भाग, पृ० २६४

सहृदयों को आनन्ददायी होना चाहिए। परन्तु वस्तु के सामान्य धर्म का वर्णन कोई चमत्कारिक वर्णन नहीं हो सकता। उसके लिए किसी कवित्वशक्ति की आवश्यकता नहीं होती, कोई भी उसका वर्णन कर सकता है। अत यह चमत्कार-शून्य सामान्य धर्म-वर्णन आह्लादकारी वाच्य के प्रसग मे अलकार्य नही हो सकता।

२ यदि इस चमत्कार-शून्य सामान्य धर्म-वर्णन को अलकार्य मानकर उसको उपमादि अलकारो से विभूषित करेंगे तो अयोग्य भित्ति पर बनाए गए चित्र के समान अलकारो से भी सौन्दर्य का आधान नही हो सकेगा। अत वस्तु-स्वभाव के सातिशय वर्णनरूप वाच्य वक्रता का अलकार्य ही मानना चाहिए।

स्वाभाविक वर्णन मे अलकारो के निषेध की व्यवस्था करते हुए कुन्तक यह मानते हैं कि उनके उपयोग से वह स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाता है। उदाहरणार्थ, सुन्दरी स्त्रियाँ सब प्रकार से अलकार्य होने पर भी स्नान के समय अथवा विरह के कारण व्रत लिए होने पर और सुरत के बाद, अधिक अलकारो का धारण नही करती हैं क्योंकि उन दशाओ म स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिको को आनन्ददायी होता है। इसीलिए स्त्रियो के नवयौवनागमनादि पदार्थ और सुकुमार वसन्तादि ऋतुओ के प्रारम्भ, पूर्ण और परिसमाप्ति आदि अपने प्रतिपादक वाच्यों की वक्रता के अतिरिक्त अलकृत रूप म वर्णित किये जाते हुए प्राय नहीं पाये जाते। इस प्रकार के स्वाभाविक वर्णन की महत्ता और उसकी विधि बताने के उपरान्त कुन्तक ने वाच्य-वक्रता के आठ सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये है। दो यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१) ता प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षण व्यलम्बन्त पुरो निषण्णा।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्रा प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्य॥
—कुमारसम्भव, कालिदास ७ १३

"(आभूषणादि धारण कराने वाली) स्त्रियाँ उस (पतली कमर वाली पार्वती) तन्वी को (सजाने के लिए) सामने बैठाकर अलकारादि (प्रसाधनो) के पास रखे हुए होने पर भी (उस पार्वती की) वास्तविक शोभा (के अवलोकन) से (ही) नेत्रो के आकर्षित हो जाने के कारण थोडी देर (किंकर्तव्यविमूढ होकर) चुपचाप बैठी रह गईं।"

(२) अव्युत्पन्नमनोभवा मधुरिमस्पर्शोल्लसन्मानसा।
भिन्नान्त करण दृशौ मुकुलयन्त्याघ्रातभूतोद्भ्रमा॥
रागेच्छा न समापयन्ति मनस खेद विनैवालसा।
वृत्तान्त न विदन्ति यान्ति च वश कन्या मनोजन्मन॥

"(वय सन्धि म खडी हुई कन्याएँ) कामवासना से अपरिचित होने पर भी यौवन के आशिक प्रभाव से उत्पन्न माधुर्य के स्पर्श से प्रसन्नमन वाली,

मनुष्यों के भ्रम को ताडकर (कोई युवक जब यह सोचकर कि यह मेरी ओर देख रही है या मुझ पर मुग्ध है तब उसकी इस भ्रान्ति का आभास पाकर) वे हृदय को वेधती हुई-सी आँखें मीचती हैं। मन की अनुरागेच्छा को (सम्भोग द्वारा) समाप्त या परिपूर्ण नहीं करती हैं और बिना ही सुरत श्रम के अलसायी-सी हो जाती हैं और जब किसी पर अनुरक्त होती हैं तब उसके वृत्तान्त का परिचय प्राप्त किये बिना ही (केवल उसके सौन्दर्य से ही) काम के वशीभूत हो जाती हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक का वाच्य वक्रता का वर्णन इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन करता है कि कुन्तक के मत में स्वभावोक्ति काव्य है। वह काव्य का वर्ण्य विषय है। केवल इसी वर्णन के आधार पर नहीं, अन्य अनेक स्थल भी ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो किसी न किसी वक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं और साथ ही स्वभावोक्ति के उदाहरण भी हैं। प्रथमोन्मेष में काव्य का स्वरूप-निर्धारण करते हुए भी अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं जो वस्तुतः स्वभावोक्ति के उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ प्रथम उन्मेष की नवीं कारिका के वृत्ति-भाग में वाच्य में अपेक्षित वाच्यरूप अर्थ के उदाहरण में (उदाहरण क्र० ३०) स्वाभाविक सौन्दर्य की महिमा का वर्णन है। वराह के स्कन्ध-घर्षण, जलावगाहन और पङ्कलुण्ठस्नानादि व्यापार सहृदयों को अत्यन्त आह्लाद प्रदान करते हैं। इसी प्रकार सुकुमार मार्ग के वर्णन में भी प्रथमोन्मेष की २६वीं कारिका के वृत्ति भाग में स्वाभाविक सौन्दर्य की श्रेष्ठता का निरूपण करते हुए 'रघुवंश' का निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

तस्यस्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्॥[1]

"दूध पीने वाले छोटे-छोटे मृग शावकों के द्वारा जिस (झुण्ड) में (भागती हुई) हरिणियों के चलने में बाधा डाली जा रही है और जिसके आगे गर्व-युक्त कृष्णसार मृग चल रहा है (अधखाए हुए) कुशों को मुख में दबाये इस प्रकार के मृगों का झुण्ड उस राजा को सामने से भागता हुआ दिखाई दिया।"

प्राणिधर्म का वर्णन करते हुए वे एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः।[2]

"कृष्णसार मृग स्पर्श के सुख से आँखें बन्द की हुई मृगी को अपने सींगों से खुजलाने लगा।"

---

१ वक्रोक्तिजीवितम् प्रथमोन्मेष, उदाहरण ७६ (रघुवंश ६.५)
२ वही, उदाहरण ७८ (कुमारसम्भव ३.३६)

'रसादिपरमार्थज्ञमन. सवाद सुन्दर.' के उदाहरण रूप मे भी स्वभावोक्ति का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। आभिजात्य गुण के वर्णन मे प्रस्तुत *किया गया निम्न उदाहरण भी स्वभावोक्ति ही है—*

ज्योतिर्लखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥[1]

"जिस स्कन्द के मोर के चमकदार रेखामण्डल से युक्त और (स्वय) गिरे हुए (न कि बलात् नोचे हुए) पख को पार्वती देवी (यह मेरे पुत्र स्कन्द के मयूर का पख है इस प्रकार की) पुत्र-प्रेम की भावना से कुवलयदल को धारण करने योग्य कान मे धारण करती हैं।"

विचित्र मार्ग के वर्णन मे भी कारिका ४१ मे उन्होने स्वाभाविक वर्णन की महत्ता को स्वीकार किया है—

स्वभाव. सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहित.।[2]

"जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस अभिप्राय वाला पदार्थों का स्वभाव-वर्णन किया जाता है वह विचित्र मार्ग है।"

कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार के अनेक ऐसे स्थल जहाँ कुन्तक ने स्वभावोक्ति की महिमा का वर्णन किया है उद्धृत किये जा सकते हैं और साथ ही अनेक ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहाँ कुन्तक ने स्वभावोक्ति के तत्वों से पूर्ण श्लोक प्रस्तुत किये हैं। अत यह स्पष्टत सिद्ध हो जाता है कि कुन्तक स्वभावोक्ति के अलकारत्व के विरोधी होते हुए भी उसे काव्य तो मानते ही हैं।

वस्तुत: 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे इतने अधिक स्थानो पर इतनी अधिक स्पष्टता के साथ स्वभावोक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया गया है कि इसको कुन्तक द्वारा अकाव्य कहे जाने के लिए कोई क्षेत्र ही शेष नही रह जाता।

भोज

जैसा कि कहा जा चुका है 'शृगारप्रकाश' मे भोज ने स्वभावोक्ति को काव्य का एक प्रमुख भाग माना है। परन्तु काव्यालकारो के वर्णन म उन्होंने अलकारो को तीन भागों मे विभक्त किया है—शब्दालकार, अर्थालकार और उभयालकार। इन सभी अलकारो की सख्या उन्होंने २४-२४ मानी है। *अर्थालकारो मे सर्वप्रथम स्थान उन्होने जाति अलकार को दिया है। 'सरस्वती-*

---

१ वक्रोक्तिजीवितम्, उदाहरण ८७ (मेघदूत, ४४)
२ वही, कारिका ४१

कण्ठाभरण' में जाति की परिभाषा वे इस प्रकार करते हैं—

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः
स्वेभ्यस्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जाति प्रचक्षते।
अर्थव्यक्तेरिय भेदमियता प्रतिपद्यते
जायमानन्नि (मि) यं वस्ति रूप सा सार्वकालिकम् ॥[1]

"वस्तुओं के उत्पन्न होने वाले नाना रूपों की स्थिति का नैसर्गिक वर्णन जाति कहलाता है। इसमें तथा अर्थ व्यक्ति में अन्तर यह है कि जाति तो वस्तु की जायमान स्थिति का वर्णन होती है परन्तु अर्थ-व्यक्ति में सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन होता है।"

भोज ने जाति के प्रसग में पदार्थ की जिन दो अवस्थाओं का वर्णन किया है उनका अन्तर आगे चलकर भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने स्पष्ट किया है कि सार्वकालिक स्थिति का अर्थ वस्तु की मूल प्रकृति से है और जायमान अवस्था किसी दशा-विशेष में किसी क्षण-विशेष की आकृति या क्रिया (mood) का वर्णन होता है। प्रथम का सम्बन्ध अर्थ-व्यक्ति अर्थ-गुण से है और द्वितीय का सम्बन्ध स्वभावोक्ति अलकार से है—

"वस्तु स्वरूपोल्लेखनार्थं (थं) व्यक्ति अर्थ गुणेषु उक्ता। तत्र सार्वकालिक रूप उपजनापायान्तराल व्यापक इत्यर्थ। अत्र तु (जात्यालंकारे) जायमान आगन्तुक निमित्त समवधानप्रभव व्यभिचारिते इत्यर्थ।"[2]

भोज द्वारा दी गई दो अवस्थाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी क्षण विशेष की स्थिति उस वस्तु की सार्वकालिक स्थिति से भिन्न नहीं हो सकती। वह उसी की एक विशिष्ट दशा होगी। अतः स्थितियों का यह विभाजन हमारे मत में ठीक नहीं है। इस विभाजन को प्रस्तुत करने का कारण भोज द्वारा विभिन्न आचार्यों का समन्वय उपस्थित करने का प्रयास है। बात यह है कि वे स्वभावोक्ति अलकार के साथ ही-साथ वामन द्वारा उपस्थित अर्थ-व्यक्ति अर्थगुण की सत्ता बनाये रखना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने दोनों के इस अन्तर की कल्पना की है। वास्तविकता तो यह है कि अर्थव्यक्ति, अर्थगुण और स्वभावोक्ति अलकार में कोई भेद नहीं है। केवल इतना ही अन्तर है कि एक को पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलकार कहा है और उसी को वामन ने अर्थगुण।

---

१ सरस्वती कण्ठाभरण, ३।४ ५
पाठ-भेद के बारे में डॉ० राघवन का मत है कि सरस्वती कण्ठाभरण का पाठ 'जायमान प्रिय ठीक नहीं है। शुद्ध पाठ जायमानमिय' है जो काव्यप्रकाश' की गोपाल टीका में सुरक्षित है।

२ डॉ० राघवन् कृत Bhoja's Shrangar Prakash के स्वभावोक्ति' अध्याय में उद्धृत।

वस्तुत वामन और भोज की अर्थ व्यक्ति की परिभाषाओं मे कोई अन्तर भी नही है--

भोज— अर्थव्यक्ति स्वरूपस्य साक्षात्कथनमुच्यते ।
यत्र कुमुदस्वरूपस्य साक्षादिव प्रतीयमानत्वेन यत् स्पष्ट रूपाभिधानमसावर्थव्यक्ति ।

वामन— "वस्तु स्वभाव स्फुटत्वम् अर्थव्यक्ति ।"
वस्तुनो भावाना स्वभावस्य स्फुटत्व यत् असौ अर्थव्यक्ति ।

यहाँ अर्थ-व्यक्ति की परिभाषाओ मे कोई अन्तर नही है । परन्तु स्वभावोक्ति-निरूपण के समय दो एक-सी बातो के मिल जाने से भोज को इस अन्तर की आवश्यकता हुई और उन्होने इस अन्तर की कल्पना कर डाली । वामन के समक्ष ऐसी कोई समस्या नही थी । उसने गुणो के अतिरिक्त स्वभावोक्ति के रूप मे स्वभाव-वर्णन को अपने अलकार-वणन म कोई स्थान नहीं दिया है ।

भोज द्वारा प्रस्तुत किय गय काव्य के तीन स्वरूपो—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति की आलोचना करत हुए डॉ० राघवन् न अपने Bhoja's Shrangar Prakash नामक ग्रन्थ म लिखा है कि जाति या स्वभावोक्ति एक ऐसा अलकार है जो अलकारो म प्रथम स्थान रखता है । अत यह कहने पर कि वक्रोक्ति अलकार-प्रधान है, भोज का तात्पर्य क्या जाति या स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति मे सम्मिलित करना है ? यदि ऐसा है तो वक्रोक्ति को अलकार प्रधान मानते समय वे उपमा से प्रारम्भ क्यो करत हैं ? क्या ऐसी दशा म यह मानना चाहिये कि उन्होन स्वभावोक्ति अलकार को अलकार-क्षेत्र से बाहर कर दिया है ?

दूसरी बात, स्वभावोक्ति का गुण प्रधान कहने का क्या अर्थ है ? भोज का गुण-विवेचन सम्यक् नही है । गाम्भीर्य गुण ध्वनि का ही दूसरा नाम है । कान्ति गुण, जो कि दीप्ति रसत्व है, एक गुण के रूप मे स्वीकार किया गया है, लेकिन कान्ति से आक्रान्त गुण भोज के अनुसार रसोक्ति है । गुण तथा स्वभावोक्ति का यह सम्बन्ध 'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे नही मिलता ।

भोज के इस वर्गीकरण को समझने के लिए उनके गुण सम्बन्धी विचार और दृष्टिकोण तथा अलकारो से उनके सम्बन्ध को समझना आवश्यक है । गुण से काव्य का आन्तरिक नित्य समवाय सम्बन्ध है और अलकार का ऐच्छिक अनित्य समवाय सम्बन्ध । गुण, काव्य के नितान्त आवश्यक तत्त्व हैं, इनके अभाव मे काव्य का निर्माण हो ही नही सकता । गुण काव्य के शोभाकारक धर्म भी हैं परन्तु उनका सम्बन्ध स्वाभाविक शोभा से है जब कि अलकारो का

कृत्रिम शोभा से। अत. काव्य के उस खण्ड में जहाँ उपमादि अलकार अनुपस्थित हैं, सौन्दर्य की उपस्थिति का कारण गुण ही है। स्वभावोक्ति या जाति, वक्रोक्ति के अन्तर्गत आने वाले उपमादि अलकारो से सर्वथा मुक्त है अत उसमें गुण भरपूर रूप से होने चाहिए। अत ऐसा लगता है कि इसी कारण भोज ने स्वभावोक्ति को गुण-प्रधान मानकर 'त्रिविध खल्वलकार वर्ग ...' इत्यादि कहा है।[1]

डॉ० राघवन् ने स्वभावोक्ति को गुण-प्रधान कहने की इस बात को भोज के आधार पर ही समझाने का प्रयास किया है। परन्तु यह विचारणीय है कि भोज के अनुसार अलकारो का काव्य के साथ अनित्य तथा ऐच्छिक सम्बन्ध है। अत किसी अलकार का स्वरूप-निर्णय अनिवार्य तथा नित्य सम्बन्ध रखने वाले गुण के आधार पर किस प्रकार निरूपित किया जा सकता है? स्वभावोक्ति नामक अलकार जिसका काव्य के साथ अनित्य समवाय तथा ऐच्छिक सम्बन्ध है, काव्य से नित्य समवाय सम्बन्ध रखनेवाले गुणों से प्रधानरूप से युक्त होता है, यह एक बडा ही विचित्र-सा वक्तव्य है। यदि कहा जाय कि वे अलकार को नही काव्य के एक भाग विशिष्ट की ओर सकेत कर रहे है तो भी उसमें गुण का प्राधान्य अनिवार्यत. स्वीकार नही किया जा सकता। क्या स्वभावोक्ति रस-विहीन भी हो सकती है? वास्तविकता तो यह है कि अर्थव्यक्ति अर्थगुण और स्वभावोक्ति का अन्तर बताकर भोज ने गुण तथा स्वभावोक्ति अलकार को अलग-अलग कर दिया है। यदि स्वभावोक्ति को गुण प्रधान माना जाय तो क्या उसे अर्थव्यक्ति से युक्त मान सकते है? यदि हाँ, तो दोनो का भेद-निरूपण कैसे होगा? यदि नही तो स्वभावोक्ति को गुणप्रधान कहकर भी उसे अर्थव्यक्ति से युक्त क्यो नही मान सकते?

वास्तविकता यह है कि अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति का भेद ही अशुद्ध आधार पर खडा हुआ है क्योंकि जायमान अवस्था कभी भी सार्वकालिक अवस्था से अलग नही हो सकती। यदि इस भेद को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न उठता है कि सार्वकालिक स्थिति का वर्णन जायमान स्थिति के वर्णन से अधिक सुन्दर रूप में भी हो नही सकता। भामह ने तो उसे काव्य ही नही माना है। वह उसे वार्ता कहता है। जायमान स्थिति का वर्णन आकर्षक और चारु होता है। अत आचार्यों ने जिसके काव्यत्व पर भी सन्देह व्यक्त किया है उसे तो काव्य से नित्य समवाय और अनिवार्य सम्बन्ध रखने वाले गुण की सज्ञा दे देना और चारु वर्णन को अनित्य समवाय तथा ऐच्छिक सम्बन्ध रखने वाले अलकार की सज्ञा दे देना कहाँ तक उचित है? यदि कहा जाय कि जायमान रूप का वर्णन

---

1 Bhoja's Shrangar Prakash, Dr V Raghavan, pp 143-44

अर्थव्यक्ति और सार्वकालिक रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है तो भी बात नही बनती क्योकि अलकार मे अपेक्षित चारुत्व से हीन और काव्यत्व के आसन से भी बहिष्कृत सार्वकालिक रूप अलकार का वर्णन कैसे कर सकता है ? वास्तव मे सार्वकालिक और जायमान रूपो के आधार पर गुण तथा अलकार का भेद-निरूपण ठीक नही है। दोनो ही स्वभावोक्ति के विषय हो सकते हैं। अग्नि-पुराण का स्वरूप-अलकार दोनो का ही समाहार करता है—

> स्वभाव एव भावाना स्वरूपमभिधीयते।
> निजमागन्तुक चेति द्विविध तदुदाहृतम्।
> सांसिद्धिक निज नैमित्तिकमागन्तुक तथा ॥[1]

"वस्तुओ के स्वभाव का तद्वत उल्लेख ही 'स्वरूप' कहलाता है। इसके दो भेद होते है—निज और आगन्तुक। स्वाभाविक वर्णन निज कहलाता है तथा कारणवश वर्णन आगन्तुक।"

भोज ने जिसको जायमान रूप कहा है, अग्निपुराणकार उसे आगन्तुक कहता है और जिसे भोज ने सार्वकालिक रूप कहा है उसे अग्निपुराणकार निज-वर्णन कहता है। परन्तु भोज ने प्रथम को स्वभावोक्ति और द्वितीय को अर्थ-व्यक्ति कहा है जब कि अग्निपुराणकार ने दोनो को ही स्वरूपालकार का भेद माना है।

जहाँ तक काव्य के तीन भेदो का प्रश्न है—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति, *हमारा इस विभाजन से कोई मतभेद नही। परन्तु उसका स्वरूप* निर्णायक क्रमश अलकार गुण और रस को मानने म हम आपत्ति है। स्वभावोक्ति के स्वरूप का निर्णय हम आगे करेंगे।

महिम भट्ट

कुन्तक के स्वभावोक्ति-खण्डन को प्रमाण्य ठहराकर उसके तर्कों का उत्तर प्रस्तुत करने वालो म महिमभट्ट ही सबसे प्रमुख हैं। 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श म उन्होने पाँच दोषो की व्याख्या की है। इनमे अन्तिम 'अवाच्य वचन दोष' है जिसमे अकथनीय का कथन किया जाता है। महिम भट्ट इसको अप्रतिभोद्भव मानकर काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देता है और कहता है कि इसका समावेश असत्य प्रेरणा के कारण ही हुआ करता है—

> यत्स्वरूपानुवादैकफल फल्गु विशेषणम।
> अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम् ॥२ १११॥

---

१ अग्निपुराण, अध्याय ३४४।३ ४

तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम् ।
तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते ॥ २.११२ ॥[1]

"जो विशेषण एकमात्र विशेष्य के स्वरूप का ज्ञान कराता हो, अतः (इस कारण से) निस्सार हो, और जिसका अर्थ सामने न आता हो—जो एक प्रकार से प्रतिभा-शून्यता के कारण आ गया हो, अतः जिसे कदापि नहीं प्रयुक्त करना चाहिए, इसलिए उसका प्रयोग दोष (अवाच्य वचन) समझना चाहिए वह केवल छन्दपूर्तिमात्र के काम का होता है। इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।"

अपने इसी विवेचन के आधार पर महिमभट्ट ने स्वभावोक्ति की व्याख्या की है कि वह नेत्रों के समक्ष बिम्ब खींचने वाली होनी चाहिए। क्योंकि स्वभावोक्ति में अवाच्य वचन के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है अतः बाण भट्ट ने इसमें अग्राम्य, रुद्रट ने पुष्टार्थ तथा दण्डी ने 'साक्षाद् विवृण्वती' विशेषण लगाये हैं। महिम भट्ट ने इसी बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है।

स्वभावोक्ति के अलंकारत्व की स्थापना करते हुए उसने कुन्तक के इस तर्क का कि—

स्वभाव व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहितं यस्मान् निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ १.१२ ॥

उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में लिखा है कि—

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते ।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ॥ ११३ ॥
उच्यते वस्तुनस्तावद्द्वैरूप्यमिह विद्यते ।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैक गोचरः ॥ ११४ ॥
स एव सर्व शब्दाना विषयः परिकीर्तितः ।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥ ११५ ॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिरा गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥ ११६ ॥

यतः

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥ ११७ ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः ॥ ११८ ॥
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम् ।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपंचितम् ॥ ११९ ॥
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालंकार तया मता ।

1 व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, हिंदी अनुवाद : रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५१

यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्था प्रतिभार्पिताः ॥ १२० ॥

"यदि ऐसा है तो स्वभावोक्ति को अलकार कैसे माना जाता है ? केवल स्वभाव के कथन का जहाँ तक सम्बन्ध है, उपर्युक्त कथन और इसमे कोई अन्तर नही है।

"इस पर हमारा कहना है कि ससार मे वस्तु के दो रूप होते है—उनमे से एक सामान्य होता है—उसमे प्राय सन्देह रहता है। वही अर्थ सभी शब्दो का विषय बतलाया गया है। इसलिये वे (शब्द) केवल सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं। जो इस (वस्तु) का विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है, वही अच्छे कवियो की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय होता है। क्योकि कवि की वह प्रज्ञा ही तो प्रतिभा है जो रस के अनुरूप शब्द और अर्थों के सोच-विचार मे निश्चलचित्त होने पर स्वरूप का स्पर्श करने से उन्मिषित होती है। वही तो भगवान् शकर का तृतीय नेत्र है जिससे वे तीनो कालो के पदार्थों का दर्शन करते हैं। हमने अपने 'तत्वोक्ति कोष' नामक शास्त्र मे प्रतिभा तत्त्व का यह विवेचन विस्तार के साथ किया है अत यहाँ उसे नही बढाया है। अर्थ के स्वभाव की जो उक्ति है—वह अलकार इसलिये मानी गई है क्योकि उक्त प्रतिभा उसमे पदार्थों को चित्रित करती है और वे आँखो-देखे-से लगते हैं।"[1]

उपर्युक्त सभी उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि महिम भट्ट वस्तु के दो स्वरूपो मे से सामान्य रूप को अलकार्य तथा विशिष्ट को अलकार मानते हैं। इस प्रकार वे कुन्तक के दोनो ही तर्कों का उत्तर प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार 'ग्रीवाभगाभिराम '[2] इत्यादि मे प्रकृतिस्थ चार टाँग, और दो आँख तथा सिर वाला हरिण तो अलकार्य है तथा कवि उसके इस रूप मे से वाच्य का ग्रहण और अवाच्य का त्याग करके हमारे सामने जो रूप प्रस्तुत करता है, वह ही स्वभावोक्ति अलकार है।

हेमचन्द्र

आगे चलकर महिम भट्ट के आधार पर ही हेमचन्द्र ने स्वभावोक्ति को अलकार माना और 'काव्यानुशासन' मे उसको स्थान दिया। उनके अनुसार स्वभाव का आख्यान ही जाति है। अर्थ की तदवस्थता ही स्वभाव है। यह

---

१ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श, पृ० ४५२-५३

२ अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालिदास, अक १, श्लोक २

ग्रीवाभगाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टि ।
पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायाम् ॥
दर्भैरर्धावलीढै श्रमविवृतमुखभ्रशिभि कीर्णवर्त्मा ।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतर स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥

जाति संस्थान, स्थानक और व्यापार तीन प्रकार की होती है।[1] कुन्तक को उत्तर देते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि—"वह वर्णन जो कवि-प्रतिभा से सन्देह-रहित, प्रत्यक्ष-दर्शन से विषय तक पहुँचाने वाला तथा वस्तु-स्वभाव के वर्णन से युक्त होता है वह जाति का विषय है और अलंकार के निमित्त स्वभाव की जो उक्ति कही जाती है उसे अलङ्कृति कहते हैं। उसमें अलङ्कृत हो जाने पर और शेष कुछ नहीं रहता। इस प्रकार जो कि लोगों ने बताया है वह स्पष्ट ही है क्योंकि वस्तु का सामान्य स्वभाव ही लौकिक अर्थ में अलंकार्य कहलाता है। कवि प्रतिभा से प्रारम्भ होने वाला विशेष विषय अलौकिक अर्थ से युक्त अलंकरण कहलाता है।"[2] ये दोनों ही उद्धरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि हेमचन्द्र ने स्वभावोक्ति के अलंकारत्व की स्थापना करते समय व्यक्ति-विवेककार का ही आधार ग्रहण किया है।

---

१ स्वभावाख्यानं जाति।
अर्थस्य तदवस्थस्य स्वभावः। स च संस्थानस्थानकव्यापारादिस्तस्य वर्णनं जाति।
तत्र संस्थानं यथा—
पर्याणम्खलितस्फिजः करतलोत्क्षिप्तोत्तरीया बला।
वल्गद्दिमन्तुरगंगता विधुरतामज्ञातवल्गाग्रहा।
नैपथ्ये क्षयति भूपतनयादद्दु स्मिष्ट सम्पादितं
नित्याविनयभुप परिचयोपात्ताश्रिय श्राविया॥
स्थानकं यथा—
स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चित सव्य पादम्।
ददर्श चक्रीकृत चारु चापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥
व्यापारो यथा—
ऋजुना नयत स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मिता कथा नयनोपान्त विलोकित च तत्॥

× × ×

वस्तुनो हि सामान्य स्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलंकार्य। कविप्रतिभासंरम्भ
विशेष विषयस्तु लोकोत्तरार्थो अलंकरणमिति।
—काव्यानुशासन हेमचन्द्र, अध्याय ६ पृ० २७५

२ कविप्रतिभया निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कल्पया विषयीकृता वस्तुस्वभावा यत्रोपवर्ण्यन्ते स जातेर्विषय। एवं च
अलंकार कृता यथा स्वभावाक्तिरलङ्कृति।
अलंकार्य तया तथा किमन्यदवशिष्यते॥
इति यत्कैश्चित्प्रतिपादितं तन्निरस्तमेव। वस्तुनो हि सामान्य स्वभावो
लौकिकोऽर्थो लंकार्य कविप्रतिभासंरम्भविशेषविषयस्तु लोकोत्तरार्थोऽलंकरणमिति।

मम्मट

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दण्डी के विरुद्ध उद्भट ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित करके उस मृग शावकादि की लीलाओं में बाँध दिया। भले ही हम 'मृगशावकादि की लीला' इस वाक्य खण्ड को सम्पूर्ण प्राकृतिक क्रिया व्यापार के प्रतीक रूप में प्रयुक्त मानें परन्तु फिर भी स्वभावोक्ति का क्षेत्र संकुचित हो ही जाता है। आगे चलकर मम्मट ने स्वभावोक्ति की जो परिभाषा दी वह भी यद्यपि उसके क्षेत्र को संकुचित रूप में ही स्वीकार करती है तथापि उद्भट की अपेक्षा वह अधिक व्यापक है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रिया रूपवर्णनम् ॥१११॥

"बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप (अर्थात् वर्ण एवं अवयव संस्थान) का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार कहलाता है।'

स्वयोस्तदेकाश्रययो। रूप वर्ण संस्थान च।

'केवल अपने में (अर्थात् बालकादि में) रहने वाले (क्रिया या रूप का वर्णन) रूप (शब्द से यहाँ) रंग और संस्थान (अर्थात् अवयवों की बनावट) दोनों ग्रहण करने चाहिए।"

उदाहरण—

पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाऽङ्ग-
मुच्चैरासज्याभुग्न कण्ठो मुखमुरसि सटा धूलि धूम्रा विधूय।
घासग्रासाभिलाषादनवरत चलोत्प्रोथ तुण्डस्तुरंगो।
मन्द शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थित क्ष्मा खुरेण।[1]

"पीछे दोनों टाँगों को फैलाकर त्रिक् (रीढ़ की हड्डी के अंतिम छोर को झुकाने से लम्बे शरीर को यथासम्भव ऊपर की ओर उठाते हुए गर्दन को झुकाये हुए मुख छाती से लगाकर और धूल धूसरित अयालों को हिलाकर घास का ग्रास लेने की इच्छा से जिसका होंठ तथा मुख निरन्तर चल रहा है, इस प्रकार का सोकर उठा और धीरे धीरे हिनहिनाता हुआ घोड़ा अपने खुरों से भूमि को खोद रहा है।"

सोकर उठे हुए घोड़े की क्रिया का स्वाभाविक वर्णन होने से यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है।

मम्मट द्वारा दिये गए उपर्युक्त विवेचन की उद्भट से तुलना करने पर ज्ञात होता है *कि इन्होंने मृगडिम्भ के स्थान पर केवल डिम्भ का तथा हेवाक्* (लीला) के स्थान पर स्वक्रियारूप का प्रयोग किया है। यहाँ रूप शब्द वर्णन

---

१ काव्यप्रकाश, हिंदी टीका, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५०५ दशम उल्लास।

संस्थान आदि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। मम्मट के अनुसार प्राकृतिक जगत के अतिरिक्त मानव-जगत् के एकाश्रय व्यापार भी स्वभावोक्ति अलंकार में अन्तर्गत आते हैं। वृत्ति-भाग में प्रयुक्त 'एकाश्रय' शब्द (स्वयोरनेकाश्रयो') अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है जहाँ कहीं बालकादि की स्वाभाविक क्रियाएँ किसी अन्य की आलम्बन या आश्रय बनकर आती हैं वहाँ वे स्वभावोक्ति का विषय न होकर रसोक्ति का अंग बनकर आती हैं। परन्तु मनुष्य-जीवन के अन्तर्गत बालकादि के स्वनिष्ठ व्यापार ही स्वभावोक्ति में अन्तर्गत आते हैं। मम्मट द्वारा प्रयुक्त एकाश्रय शब्द वस्तुपरक सौन्दर्य और व्यक्तिपरक सौन्दर्य की ओर संकेत करता है। स्वनिष्ठ व्यापार जो अपनी सत्ता के कारण सभी के हृदय में सौन्दर्यानुभूति जगा देते हैं, वस्तुपरक सौन्दर्य के प्रतीक हैं। परन्तु वही व्यापार जब किसी के आलम्बन या आश्रय बनकर आते हैं तो विषयीगत या व्यक्तिपरक सौन्दर्य का रूप धारण कर लेते हैं।

माणिक्यचन्द्र

मम्मट ने यद्यपि स्वभावोक्ति को अलंकार माना है परन्तु वे कुन्तक द्वारा उठाई गई आपत्तियों के बारे में मौन हैं। परन्तु उनके टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने महिम भट्ट के आधार पर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। लगभग उसी शब्दावली में वे लिखते हैं—

"इह वस्तु स्वभाव वर्णन मात्र नालंकार । तत्वे सर्व काव्यालंकार स्यात्। तस्मात् सामान्य स्वभावो लौकिकोर्थोऽलंकार्य । कवि-प्रतिभा गोचरस्य तु अतएव तन्निमित्तस्य स्वभावस्य उक्ति अलंकार ।"[1]

"यह वस्तु स्वभाव का वर्णन मात्र अलंकार नहीं है। तत्त्व तो यह है कि सम्पूर्ण काव्य ही अलंकार होता है। उसका सामान्य स्वभाव जो लौकिक अर्थ होता है वही अलंकार्य है। वह (काव्य) प्रतिभागोचर होता है, इस कारण स्वभाव की उक्ति अलंकार होती है।

स्पष्ट है महिम भट्ट के आधार पर माणिक्यचन्द्र मम्मट की व्याख्या कर रहे हैं।

रुय्यक

अब तक के काव्यशास्त्रियों ने स्वभावोक्ति के बारे में जो भी विचार प्रस्तुत किये हैं वे केवल स्वभावोक्ति का ही विवेचन करते हैं। किसी-किसी ने ही तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। परन्तु रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' में स्वभावोक्ति अलंकार की तुलना भाविक और रसवद् अलंकारों से भी की।

१ काव्यप्रकाश टीका, माणिक्यचन्द्र, पृ० ४०३

यह तुलना भाविक अलकार के प्रसग म की गई है। स्वभावोक्ति अलकार के सम्बन्ध म उनका वणन अन्य अलकारो की ही भाँति इस प्रकार है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णन स्वभावोक्ति ॥७८॥

"वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावद्वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।"

इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है—

"वस्तु के स्वभाव मात्र का वर्णन अलकार नही है। यह तो तत्त्व-रूप मे सम्पूर्ण काव्यालकार म हुआ करता है। जहाँ वस्तु स्वभाव का वर्णन नही होता वह तो काव्य ही नही हो सकता। इसका (स्वभावोक्ति का) तात्पर्य है सूक्ष्म अथ का ग्रहण। सूक्ष्म अथ कवि प्रतिभा से ही जाना जा सकता है। अत कवि प्रतिभामात्र से सवेद्य वस्तु स्वभाव की तदनुरूप उक्ति अथवा न्यूनातिरिक्त यथावद्वणन ही स्वभावोक्ति अलकार है। प्रतिबिम्ब रूप वर्णन तो प्रस्तावादि का लक्षण है। भाविक और रसवद अलकार से इसका भेद भाविक के प्रसग म किया जायगा।"[1]

रुय्यक के इस वणन मे और दण्डी आदि के स्वभावोक्ति वर्णन म कोई अन्तर नही है। बाण भट्ट ने जिस वैशिष्ट्य के लिए 'अग्राम्यत्व' का, दण्डी ने 'साक्षादविवृण्वती' का और रुद्रट ने 'पुष्टार्थ' का रुय्यक ने उसी विशेषता के लिए 'सूक्ष्म ग्रहण' का प्रयोग किया। यहाँ यथावत के साथ 'न न्यूनातिरिक्तत्वेन' शब्द का प्रयोग भी वणन म चमत्कार के उत्पादन के लिए आवश्यक तथा कवि को छोटे छोटे परिवर्तनो का अधिकार देने के लिए किया है।

भाविक और स्वभावोक्ति म रुय्यक द्वारा किये अन्तर को समझने के लिए भाविक अलकार के सम्बन्ध मे अब तक उठे प्रश्नो पर विचार करना अप्रासगिक न होगा।[2]

---

१ इह वस्तुस्वभाववणनमात्र नालकार। तत्वे सति सर्व काव्यमलकार स्यात। न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववणनम्। तदथ सूक्ष्म ग्रहण। सूक्ष्म कवित्वमात्र गम्य। अतएव तन्निमित एव यो वस्तु स्वभाव तस्य यथावन्न्यूनातिरिक्तत्वेन वणन स्वभावोक्ति रलकार। उक्ति वाचायुक्ति प्रस्तावादि लक्षणम। भाविक रसवदलकाराभ्यामस्या भदो भाविक अलकार प्रसग निर्णेष्यते। यथा—

> क स्फारो नखकोटिचञ्चुपुटकव्याघट्टनोट्टङ्कित
> स्तन्व्या कुन्तल कौतुक व्यतिकरे सीत्कार सीमान्वित।
> पुष्टश्लिष्टदवामनस्तन भरोत्सेध्याक पाली सुधा
> सकार्केकरलाचनस्य इतिन कर्णावतसी भवेत्।

—अलकार सवस्व रुय्यक पृ० १७७

२ भाविक अलकार का यह वणन डॉ० राघवन्कृत Studies on Some Concepts of Alankarshastra नामक ग्रथ क 'History of Bhavik in Sanskrit Poetics' नामक लख पर आधृत है।

भामह ने अलंकार-विवेचन के उपरान्त भाविकत्व प्रबन्ध गुण का वर्णन किया है। क्योंकि यह वर्णन अलंकारों के बाद है अतः यह माना जा सकता है कि वे इसे भी अलंकार मानते थे। इस अलंकार का विषय प्रबन्ध है। उन्होंने लिखा है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्ध विषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूत भाविनः॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता। (स्वभिविनीतता)
शब्दानुकूलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥[1]

"भूत और भविष्य के जो अर्थ प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं उसको भाविकत्व कहा जाता है जो प्रबन्ध-विषयक गुण कहा गया है। विचित्र, उदात्त और अद्भुत अर्थ कथा की स्पष्टता और शब्दानुकूलता यही उसके कारण हैं।"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भामह ने चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्व, कथाया: तथा स्वभिनीतता या स्वभिविनीतता—यह तीन भाविक अलंकार के हेतु माने हैं। भामह का पाठ है 'स्वभिनीतता' परन्तु जयमंगल ने 'स्वभि-विनीतता' पाठ माना है। इन तीन में से प्रथम का अर्थ है कि काव्य के अर्थ एकदम स्पष्ट और कल्पना को साकार करने वाले होने चाहिए। द्वितीय का अर्थ है कथानक सरल, रुचिकर, स्पष्ट तथा रहस्य-रहित होना चाहिए। तृतीय का अर्थ है अभिव्यंजना इतनी सरल और स्पष्ट होनी चाहिए कि कथा शीघ्र ग्रहण हो सके।

भामह ने भाविक को प्रबन्ध गुण कहा है परन्तु वास्तव में यहाँ गुण शब्द का प्रयोग अलंकार के अर्थ में ही किया गया है। उनके द्वारा इसको अलंकार माना जाना इस बात से भी सिद्ध है कि तृतीय अध्याय में उन्होंने लिखा है—'भाविकत्वं च निजगुरलंकारं सुमेधसः' साथ ही जयमंगलकृत भट्टि टीका के शब्दों से भी यही बात स्पष्ट होती है कि भामह भाविकत्व को अलंकार मानते थे—'भाविकत्वमलंकारः प्रबन्ध विषय उक्तः' अर्थात् भाविकत्व अलंकार का प्रबन्ध-विषयक गुण कहा जाता है। अनर्घराघव की परिभाषा भी यही सिद्ध करती है[2] कि भाविक अलंकार होता है।

भाविक अलंकार से मिलता-जुलता लास्य का बारहवाँ अंग भाव या भाविक है जिसमें प्रेमिका अपने प्रेमी को स्वप्न में अपने समक्ष देखकर भाव-

---

१ काव्यालंकार, ३।५२-५३

२ अविद्या बीज विध्वंसादयमार्येण चक्षुषा।
कालौ भूत भविष्यन्तौ वर्तमानवीक्षितौ॥ —अनर्घराघव, २।३४
'अविद्या को नष्ट करके जो भूत और भविष्य का साक्षात् वर्तमान रूप में दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करता है वह भाविक अलंकार होता है।'

प्रवण अभिव्यक्ति करने लगती है—

> उक्त प्रयुक्त भावं (वे) च लास्यांगानि विदुर्बुधाः
> दृष्ट्वा स्वप्न प्रियं यत्र मदनानल तापिता
> करोति विविधान् भावान् तद्वं भवितमुच्यते ॥

"जो कुछ हम कह चुके हैं विद्वानों के अनुसार वही लास्यांग हैं। जहाँ स्वप्न में प्रिय को देखकर नायिका काम से प्रेरित हो जाती है और कई प्रकार के भावों को अपनाती है उसे भवितम् कहा जाता है।"

जयमंगल के अनुसार भट्टि का मत है कि काव्य में मूल रूप में प्रसाद-गुण होना चाहिए। अत: उन्होंने व्याकरण के उपरान्त काव्यशास्त्र के विवेचन को प्रसन्न काण्ड कहा है। प्रसाद के पश्चात् अलंकारों का स्थान है और अलंकार के पश्चात् माधुर्य गुण का। इसके पश्चात् जयमंगल ने भामह की भाविक-सम्बन्धी दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

"भाविक अलंकार प्रबन्ध का विषय कहा जाता है जो प्रबन्ध के किसी एक देश में नहीं वरन् सम्पूर्ण प्रबन्ध में स्थित होते हैं, चित्रादि अर्थ उसके कारण होते हैं।

"इस प्रकार प्रबन्ध के उदात्त अर्थ कहने से उदात्त अर्थत्व को कहते हैं। रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण आदि के वचनों में चित्रार्थत्व दिखाई पड़ेगा। कथा की स्पष्टता और सुबोधता तथा शब्दानुकूलता इन दोनों का निर्णायक समझना चाहिए।"[1]

जयमंगल की इस टीका पर आलोचना करते हुए डॉ० वी० वी० राघवन् ने लिखा है—

> Jai Mangal says here only one definite thing that the 'Svavinitata' of Katha means 'subodhta' easy understandability of the story. Beyond this we are unable to know what exactly in this canto answer to the condition उदात्तार्थत्व चित्रार्थ अद्भुतार्थता, कथायाः स्वविनीतता and शब्दानुकूलता nor are we able to see how in this particular

---

१. भाविकत्वमलंकार प्रबंध विषय उक्त । नैकदेशिकं (प्रबंध विषय उक्तो नैकदेशिक) तस्य चित्रादयोऽर्था प्रवृत्ति हेतव । तथा चोक्तम् भाविकत्वमिति प्राहु·· ।

—काव्यालंकार, ३, ५२ ५३

"इयता प्रबंधेन उदात्तार्थाभिधानादुदात्तार्थत्वमुक्तम् । इति उत्तर प्रहस्त रावण विभीषण मातामह कुम्भकर्णादीना वचन प्रबंधेषु चित्राद्भुतार्थत्व द्रष्टव्यम् । स्वविनीतता, सुबोधता, शब्दानुकूलता चेत्येतदुभय कथायामेव मत्तनिर्णयाख्या द्रष्टव्यम् ।

—जयमंगल कृत, भट्टि टीका, पृ० ३०७

canto things of past and future are made to appear as present ones "[1]

भामह तथा भट्टि के अतिरिक्त दण्डी ने भी भाविक अलकार का वर्णन किया है।[2] परन्तु भामह और दण्डी के भाविक अलकारो मे केवल एक ही साम्य है कि दोनो ने इसे प्रबन्ध गुण माना है। शेष कोई भी बात दोनो मे नही मिलती। दण्डी ने अपनी परिभाषा मे जिस 'कवेरभिप्राय' की बात कही है वह दण्डी तक ही सीमित रही। उद्भट ने भाविक को स्पष्टत भाविक का रूप दिया और अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट लक्षण किया—

प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूत भाविन ।
अत्यद्भुत स्यात्तद्वाचामना कुल्येन भाविकम् ॥

"जहाँ भूत और भविष्य से सम्बद्ध अर्थ प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं वहाँ अत्यन्त अद्भुत वाणी से कहा गया भाविक अलकार होता है।"

यहाँ 'चित्रोदात्ताद्भुतार्थं' म से केवल अत्यद्भुतार्थ को ही स्पष्ट किया गया। शेष को उन्होने छोड दिया है। डॉ० राघवन् के अनुसार समझ मे न आने के कारण उसे छोडा गया है। परन्तु भामह के लक्षण की प्रमुख बात उन्होने बनाये रखी है कि भूत और भविष्यत् का चित्र प्रत्यक्ष खडा करना भाविक अलकार है। उद्भट पर टीका करते हुए प्रतिहारेन्दुराज ने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है जिसम दण्डी के 'कवेरभिप्राय' का समाहार उद्भट के वचन आनुकूल्य मे किया है और भामह की शब्दानुकूलता का अर्थ, अर्थ की सद्य द्योतनता मे किया गया है जो कि प्रसाद और अर्थव्यक्ति का आवश्यक

---

१ Studies on Some Concepts of Alankarsastra, p 121

२ दण्डी ने भाविक के सबध मे निम्नलिखित तीन पक्तियाँ दी हैं—
"भाविकत (त्व) मिति प्राहु प्रबध विषय गुणम्।"
"प्रबध सबधी गुण का नाम ही भाविक है।"

(१) भाव कवेरभिप्राय काव्येष्वस्य व्यवस्थित (काव्येष्वासिद्धि मस्थित)।
"भाव कवि का अभिप्राय है और काव्य मे उसकी व्यवस्था है जो काव्यसिद्धि म अन्त तक रहता है।"

(२) परस्परोपकारित्व सर्वेषा वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया (३) स्थान वर्णना (४) ॥
"परस्पर सहायक होने से और सभी वस्तुओ के वणन मे व्यर्थ विशेषणों के परित्याग से जो वस्तु-वर्णन होता है उसे स्थान-वर्णन कहते हैं।"

(३) व्यक्तिरुक्ति क्रम बलादगम्भीरस्यापि वस्तुन।
भावायत्तमिद सर्वमिति तद्भाविक विदु ॥
"व्यक्ति के कथन के प्रसग के बल से गम्भीर वस्तु का भी जहाँ कथन होता है उसे भाविक अलकार कहते हैं।" —श्लोक ३६४ ३६६, काव्यादर्श।

गुण है। परन्तु जहाँ प्रसाद और अर्थव्यक्ति गुण होंगे वहाँ भाविक होना आवश्यक नहीं है।[1]

प्रतिहारेन्दुराज का अभिप्राय यह है कि यदि विचार सुलझे हुए हों तथा अभिव्यक्ति पारदर्शी हो एवं भावनाएँ मार्मिक ढंग से प्रस्तुत की जायें तो सहृदय का मन कवि के उस हृदय से तादात्म्य स्थापित करता है जो काव्य के रूप में परिलक्षित हुआ है। यह विवेचन दण्डी के 'कवेरभिप्राय' तथा भट्ट नायक के भावकत्व व्यापार की मीमांसा का स्पर्श करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारेन्दुराज का भाविक सम्बन्धी विचार, कल्पना से निकटतम सम्पर्क रखता है। इस कल्पना में उसने स्रष्टा की कल्पना ही नहीं वरन् आलोचक की उस सौन्दर्यानुभूति को भी आधार बनाया है जिसके आधार पर वह काव्यानुभूति का रसास्वाद करता है। वास्तव में प्रतिहारेन्दु का तात्पर्य यह है कि भाविक अलकार का सम्बन्ध सहृदय और कवि दोनों से है जिसके बीच में अनुभवों की एक कड़ी लगातार रहती है।

मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' में भाविक अलकार का वर्णन किया है। उन्होंने भाव अलकार नाम से भी एक अलकार का वर्णन किया है परन्तु उसका इस भाविक से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मम्मट का भाविकालकार उद्भट की परिभाषा का ही एक रूप है। मम्मट ने केवल अत्यद्भुतता वाचमनाकुल्य को छोड़ दिया है। इसको उन्होंने भी उद्भट की तरह वाक्य में ही सीमित कर दिया तो रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति से उसका अन्तर करना अनिवार्य हो गया। विद्या चक्रवर्ती ने अपनी टीका में मम्मट द्वारा शब्दानुकूलता को छोड़ने के बारे में लिखा है कि जब वस्तुएँ नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष होती हैं तो साधारणतया दो अवस्थाएँ सामने आती हैं—प्रथम तो यह कि वस्तु अपने आपमें इतनी सुन्दर हो कि वर्णन मात्र से प्रत्यक्ष हो उठे और द्वितीय यह कि इस प्रत्यक्षीकरण का कारण अभिव्यजना की श्रेष्ठता है। उद्भट और मम्मट ने केवल द्वितीय स्थिति को ही भाविक कहा है पर तु डॉ० राघवन् के अनुसार विद्या चक्रवर्ती द्वारा भाविक की यह व्याख्या पूर्णत ठीक नहीं है क्योंकि भामह और उद्भट के दृष्टिकोण से वस्तुओं में स्वत का आकर्षण और सौन्दर्य भी होना चाहिए। चित्रोदात्ता द्भुतार्थत्व' तथा 'अत्यद्भुता' (भाव) से यही ध्वनि निकलती है।

रुय्यक ने पहले तो पूर्ववर्ती अलकारों का ही क्रम अपनाया पर बाद में मम्मट का ही अनुकरण किया है और भाविक की दो स्थितियाँ स्वीकार की है। रसवदलकार के प्रसग में स्वभावोक्ति और भाविक का अन्तर बताते हुए

---

१ तत्रवाचामनाकुलता व्यस्त सबध रहित लोक प्रसिद्ध शब्दोपनिबधनात् इतिगत्य प्रतीति कारिता।

उन्होंने कहा है कि भाविक में केवल अद्भुत और लोकोत्तर घटनाएँ ही प्रस्तुत की जाती है जब कि स्वभावोक्ति में साधारण का ही चित्रण होता है। परन्तु वे इस अन्तर को एकदम दृढ़ नहीं मानते। उनके अनुसार इहलौकिक साधारण वस्तुओं का वर्णन भी कभी-कभी इतना सुन्दर होता है कि वे प्रत्यक्ष हो उठती है। ऐसी दशा में वह स्वभावोक्ति से युक्त भाविक अलंकार होगा। वे भाविक और स्वभावोक्ति में अलौकिक और लौकिक का अन्तर नहीं मानते। समुद्रबन्ध ने अपनी टीका में यह गलत धारणा प्रस्तुत की है कि वे दोनों के मध्य अन्तर मानते थे। रुय्यक ने तो स्पष्टत. लिखा है कि—

"क्वचित्तु लौकिकानामपि वस्तूना स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविकस्वभावोक्तयोः समावेश स्यात्।"

"कहीं तो लौकिक वस्तुओं के स्पष्ट होने से भाविक और स्वभावोक्ति का समावेश होता है।"

अत: भाविक, स्वभावोक्ति और रसोक्ति में अन्तर यह है कि अन्तिम दो में प्रतीति साधारण होती है और प्रथम दो में असाधारण। परन्तु यह अन्तर बहुत ही अस्पष्ट और कम है क्योंकि काव्य में तो साधारणीकरण के अभाव में कोई अनुभव हो ही नहीं सकता। रुय्यक के पश्चात् माणिक्यचन्द्र ने इन दोनों का अन्तर रुय्यक के अनुसार ही माना है। हेमचन्द्र के अनुसार दोनों एक ही वस्तु हैं, भाविक पूर्णतया नाटक के क्षेत्र की वस्तु है। चन्द्रालोक में इसे 'भाविकच्छवि' कहा है परन्तु स्वभावोक्ति के साथ उसकी तुलना के विषय में वे मौन हैं। मम्मट और विद्या चक्रवर्ती के अनुसार भाविक और स्वभावोक्ति में अन्तर यह है कि भाविक में भूत और भविष्यत् की बातें स्पष्ट होती हैं और स्वभावोक्ति में केवल वर्तमान वस्तुएँ ही। स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित है और भाविक में सभी प्रकार का वर्णन आता है। मम्मट तीनों की तुलना करते हुए कहते हैं कि यह दोनों से इस बात में भिन्न है कि इसमें भूत और भविष्यत् का वर्णन प्रत्यक्ष की भाँति इसी प्रकार होता है जिस प्रकार योगियों को वह प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते है। यह एक वस्तुगत अनुभव है।

परन्तु स्वभावोक्ति और रसोक्ति में हमारे न केवल छोटे-मोटे भाव ही डूब जाते हैं वरन् व्यक्ति स्वय को पूर्णतया भूलकर उसमे खो जाता है।[1]

---

१ नाप्यय परिस्फुटद्रूपतया स चमत्कार प्रतिपत्ते रसवदलकार। रत्यादिचित्तवृत्तीना तदनुपक्तनया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदय सवादितया परमाद्वैतज्ञानिवत् प्रतीतौ तस्य भावात्। इह तु साटस्थ्येन भूतभाविना स्फुटतया भिन्न सर्वज्ञवत् प्रतीतौ तस्य भावात। नापीय सूक्ष्म वस्तु स्वभाव वर्णनात् स्वभावोक्ति। तस्या लौकिक वस्तुगत सूक्ष्म वर्णने साधारण्येन हृदयसवाद सभवात्। इह लोकोत्तराणा वस्तूना स्फुटतया साटस्थ्येन च प्रतीते।

—अलकार सर्वस्व, रुय्यक

तात्पर्य यह है कि रुय्यक ने भाविक अलंकार के साथ स्वभावोक्ति की तुलना करके भविष्य के विचारकों को विचार करने की एक और दिशा दी।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने स्वभावोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१० ६२॥

दुरूहयो कविमात्रवेद्ययो अर्थस्य डिम्भादे स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टा स्वरूपयो।[1]

"स्वभावोक्ति वह अलंकार है जिसे दुरूह अथवा सूक्ष्म अथवा कल्पनाशील कविजन द्वारा संवेद्य पदार्थों के स्वरूप किंवा उनकी क्रियाओं का वर्णन कहा करते है।"

यहाँ 'दुरूहार्थ स्वक्रिया रूपवर्णनम्' में दुरूहयो का तात्पर्य है केवल कविजन द्वारा वेद्य का, अर्थस्य का अभिप्राय है बालक-प्रभृति विविध वस्तु-जगत् का और 'स्वक्रिया रूपयो' का अभिप्राय है स्वयो, अर्थात् अपने-अपने प्रातिस्विक क्रियारूपयो अथवा चेष्टा किंवा रूप का। उदाहरणरूप में उन्होंने स्वरचित निम्नलिखित पद प्रस्तुत किया है—

लांगूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भया—
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण
स्फूर्जद्धुंकारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेषजन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षु ॥[2]

"बार-बार अपनी पूंछ से धरती पर चोट करते और अगले पंजे से बार-बार नोचते खसूटते, अपने शरीर को एक क्षण में समूटते, एक क्षण में सिकोड़ते और सहसा ऊपर की ओर उछलते, भयंकर घू घू शब्द करते और जानवरों को चारों ओर भगाते, क्रोध में चूर लाल फूली हुई आँखों वाला यह बघेरा जंगल में घूम रहा है।"

उपर्युक्त लक्षण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यहाँ 'डिम्भादे' 'तदाश्रय' और क्रिया रूप यह तीन तत्व तो यथावत् मम्मट की परिभाषा से उद्धृत है। यद्यपि दुरूह शब्द विश्वनाथ का अपना है परन्तु उसके मूल विचार का स्रोत तो महिम भट्ट तथा उनके अनुयायी हेमचन्द्र तथा माणिक्यचन्द्र ही है जिन्होंने 'दुरूह' शब्द की अपेक्षा 'कवि मात्र वेद्य' अर्थ के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यजक शब्दों 'प्रतिभोद्भव', 'कवि प्रतिभा सम्रम्भ', 'कवि प्रतिभागोचर'

---

१ साहित्यदर्पण, हिन्दी टीका, सत्यव्रतसिंह पृ० ८६५
२ वही पृ० ८६५

का प्रयोग किया है। परन्तु विश्वनाथ का महत्त्व इस बात मे है कि उन्होने महिमभट्ट तथा मम्मट की परिभाषाओ को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयास किया।

सस्कृत के फुटकल आचार्य

सस्कृत के उपर्युक्त काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त अनेक अन्य फुटकल अलकार-विवेचको ने भी स्वभावोक्ति का वर्णन किया है। परन्तु उसमे हमे कोई नावीन्य नही मिलता। लगभग सभी ने लक्षण और उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं।

अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' मे दण्डी के अनुसार ही जाति, क्रिया और गुण के अनुसार स्वभाव का वर्णन करने पर स्वभावोक्ति अलकार माना है।[1] और भेद भी उसी प्रकार किये हैं परन्तु उदाहरण केवल रूप और क्रिया के ही प्रस्तुत किये है। अप्पय दीक्षित का स्वभावोक्ति-वर्णन 'चन्द्रालोक' की ज्यो-की-त्यो पुनरावृत्ति है। अन्तर केवल यही है कि द्वितीय उदाहरण उनका अपना है। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि जयदेव और दीक्षित दोनो ही स्वभावोक्ति के समर्थक हैं। 'अलकार-मजूषा' के रचयिता भट्ट देवशकर पुरोहित के अनुसार किसी जाति-विशेष के स्वभाव का श्रेष्ठ वर्णन काव्यशास्त्रियो द्वारा स्वभावोक्ति कहा जाता है।[2] उदाहरण रूप मे उन्होंने 'रघुवश' का 'श्री राघवस्य चमू निनाद ...' इत्यादि प्रस्तुत किया है। 'अलकार-मुक्तावली' के रचयिता पर्वतीय विद्वद्वर श्री विश्वेश्वर पाण्डेय ने इसका लक्षण किया है—"जो वस्तु के स्वभाव की उक्ति है वही स्वभावोक्ति है।"[3] उदाहरण रूप मे उन्होने 'नैषध-चरित' के द्वितीय सर्ग का तृतीय श्लोक उद्धृत किया है। श्रीकृष्ण ब्रह्मतत्र परकाल सयमी ने अपनी पुस्तक 'अलकार-मणिहार' के तृतीय भाग मे स्वभावोक्ति अलकार का दण्डी के आधार पर विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार जाति के स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है। जाति के अन्तर्गत वे गुण, क्रिया और द्रव्य को ग्रहण करते हैं। यद्यपि इन तीनो भेदो के उदाहरण

---

१ स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥१६०॥

—कुवलयानंद, अप्पय दीक्षित, पृ० २६०

२ जात्यादीनां स्वभावो यद्वर्ण्यते हृदयगमः।
अलङ्कृतिः स्वभावोक्तिं विदुस्तां तान्त्रिकोत्तमाः॥

—अलकार-मंजूषा, भट्ट देवशकर पुरोहित, पृ० २१५

३ यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः।

—अलकार-मुक्तावली, विश्वेश्वर पाण्डेय, पृ० ३६

के रूप मे प्रस्तुत पद उनके स्वरचित नही है तथापि सर्वथा नवीन है। पहले के किसी अलकारिक ने नहीं दिये हैं।[1]

'अलकार-सग्रह' के लेखक अमृतानन्द योगी के अनुसार जो वस्तु जैसी है उसका जैसा का तैसा वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है और वही जाति भी कहलाता है—

यद्यद्वस्तु यथावस्थं तथा तद्रूपवर्णनं।
स्वभावोक्तिरिति ख्याता सैव जातिर्मता यथा। —पृ० ४५

वे भी स्वभावोक्ति को चार प्रकार का मानते है—'जातिक्रियागुण-द्रव्यभेदैः सापि चतुर्विधा।' परन्तु उदाहरण केवल एक का ही प्रस्तुत किया है। इन्होने भी दण्डी की भाँति इसको अलकारो मे प्रथम स्थान दिया है।

महामहोपाध्याय गोविन्द ने अपने 'काव्य-प्रदीप' मे मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के लक्षणोदाहरण की व्याख्या-भर कर दी है। उसमे कोई नाविन्य नही है, 'काव्य-प्रकाश' की व्याख्या-भर है।

सस्कृत-आचार्यों के स्वभावोक्ति-विवेचन का निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सस्कृत के आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग तो उन लोगों का है जिन्होने सीधे-सीधे स्वभावोक्ति के अलकारत्व अथवा काव्यत्व पर विचार न करके या तो प्रासगिक रूप मे अथवा किसी अन्य नाम से

---

१ परकाल का स्वभावोक्ति-वर्णन इस प्रकार है—
"जात्यादिस्थस्वभावोक्तिस्स्वभावोक्तिरितीर्यते"
"जात्यादिनिष्ठ स्वभाव वर्णन स्वभावोक्तिरित्यन्वयर्थं सज्ञोऽलकार। आदि पदेन गुण क्रिया द्रव्याणि गृह्यन्ते'

उदाहरण—वत्सस्मरणप्रस्नुतसुपीवरोध्नी विलोलतरसास्नाम्।
हुम्भार व गम्भीरा गव्या साय निवर्तयति शौरि॥
अत्र गौ जाति स्वभावस्य वर्णनम्।
खजितहरिनीलमद मजुलतापिछ सच्छायम्।
अजनयति मामकदृशभजन गिरि कु ज धाम हरिधाम॥
अत्र गुण स्वभाव वर्णनम्।
उरसिरमा निदधान करयोश्चक्र दर च विदधानम्॥
कनकाम्बर दधान कनतान्मम मनसि फणिगिरि निदानम्।
मितसितहसितविकस्वर कपोल फलक कुरगम दतिलकम्
अनयो पद्यो द्रव्य स्वभाव वर्णनम्।
वृष शिखिर नि य भोग्य वृणी महे मनसि किमपि सौभाग्यम्।
अनयो पद्यो द्रव्य स्वभाव वर्णनम्।

वस्तुगत सौन्दर्य के प्रति अपनी जागरूकता दिखाई है। बाणभट्ट और वामन इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। 'जाति अग्राम्य होनी चाहिए', यह बात बाणभट्ट ने अलंकार के प्रसंग में न कहकर 'कादम्बरी' के प्रसंग में कही है। वामन ने भी स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का प्रश्न न उठाकर सीधे-सीधे अर्थ-व्यक्ति अर्थ-गुण के नाम से वस्तु-सौन्दर्य के चित्रण पर बल दिया है। यद्यपि उनके द्वितीय उदाहरण में स्वभावोक्ति के लिए आवश्यक निर्व्याजता नहीं है, तथापि उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे वस्तुगत सौन्दर्य की गरिमा को समझते थे और काव्य में उसके श्रेष्ठत्व को स्वीकार करते थे। इसी कारण उन्होंने इसे रीति-सिद्धान्त के प्राण-तत्त्व गुणों में स्थान दिया है।

दूसरा वर्ग उन आचार्यों का है जिन्होंने स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का विरोध किया है। भामह और कुन्तक इसी वर्ग के आचार्य हैं। यद्यपि भामह ने स्पष्टतः विरोध नहीं किया है तथापि उनके सम्पूर्ण विवेचन की पृष्ठभूमि से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे स्वभावोक्ति के अलंकारत्व के विरोधी हैं। कुन्तक ने तो प्रारम्भ से ही स्वभावोक्ति का विरोध कर उसके अलंकारत्व का निषेध किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने स्वभावोक्ति को एकदम छोड़ ही दिया है। उन जैसे आचार्य द्वारा इसको छोड़ा जाना इस बात का संकेत माना जा सकता है कि वे इसके विरुद्ध थे।

तृतीय वर्ग में हम उन आचार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं जिन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार माना है और उसके लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस वर्ग में हम उद्भट, रुद्रट, अग्निपुराणकार, महिमभट्ट, हेमचन्द्र, मम्मट, माणिक्यचन्द्र, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव, श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल, भट्ट देवशंकर पुरोहित, विश्वेश्वर पाण्डेय, अमृतानन्द योगी और महामहोपाध्याय गोविन्द आदि आते हैं। इस वर्ग के आचार्यों को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग में तो वे आचार्य रखे जा सकते हैं जिन्होंने स्वभावोक्ति को मृगशावकादि की स्वाभाविक क्रियाओं तक सीमित रखा है और दूसरे में वे जिन्होंने सब प्रकार के स्वाभाविक वर्णन को इसके अंतर्गत रखा है। प्रथम वर्ग में उद्भट, मम्मट, माणिक्यचन्द्र और महामहोपाध्याय गोविन्द को रखा जा सकता है। द्वितीय वर्ग में रुद्रट, अग्निपुराणकार, महिमभट्ट, हेमचन्द्र, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव तथा अमृतानन्द योगी को रखा जा सकता है।

चतुर्थ वर्ग में हम उन आचार्यों की गणना कर सकते हैं जिन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार तो माना है परन्तु उसे साथ ही काफी व्यापक रूप देकर काव्य की शैली विशेष के रूप में स्थापित किया है। इन आचार्यों में हम दण्डी और भोज की गणना कर सकते हैं। एक ने इसका क्षेत्र अलंकारों तक

विस्तृत माना और दूसरे ने इसे काव्य का एक विशिष्ट भाग मान लिया। भोज इसे वस्तुगत सौन्दर्य का ही एक रूप मानते हैं।

संस्कृत साहित्य में स्वभावोक्ति-तत्त्व का विवेचन (१) जाति, (२) स्वभावोक्ति, (३) स्वभाव, (४) वार्ता आदि अलंकारों, (५) अर्थव्यक्ति अर्थगुण और (६) वस्तु-वक्रता के नाम से हुआ। भाविक और रसवदलंकार के प्रसंग भी इसके साथ जुड़ गये। दण्डी, रुद्रट, उद्भट, मम्मट, रुय्यक विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने स्वभावोक्ति और जाति में कोई भेद नहीं माना है। दोनों ने ही नामों का प्रयोग किया है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति के नाम से इसका खण्डन किया है। केवल भट्टि काव्य में वार्तालंकार को स्वभावोक्ति के पर्याय के रूप में लिया गया है। वार्ता-अलंकार के उदाहरण महेन्द्रगढ़ पर्वत के वर्णन से स्पष्ट है। कुन्तक ने इसके अलंकारत्व का खण्डन करते हुए भी वस्तु-वक्रता के प्रसंग में इसका वर्णन किया है।

संस्कृत-आचार्यों के स्वभावोक्ति-वर्णन ने एक यह बात स्पष्ट कर दी कि भले ही उन्होंने सौन्दर्य के दो भेद—व्यक्तिपरक और वस्तुपरक न किये हों परन्तु वे इन दोनों भेदों से परिचित थे। उनको वस्तुगत सौन्दर्य की स्पष्ट कल्पना थी। इसके प्रमाण रूप में मम्मट द्वारा प्रयुक्त 'एकाश्रयी' शब्द प्रस्तुत किया जा सकता है। यह शब्द स्पष्ट करता है कि रस एक व्यक्तिपरक अनुभव है और स्वभावोक्ति का सौन्दर्य वस्तुपरक सौन्दर्य की प्रस्तुति है।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इन आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप स्वभावोक्ति के बहुत ही सुन्दर उदाहरण सामने आये तथापि कुछ उदाहरण निश्चित रूप से सुन्दर बन पड़े हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के मृग का उदाहरण, 'रघुवंश' के मृगों का उदाहरण, कुन्तक द्वारा प्रस्तुत वाराह तथा मृगों के उदाहरण, 'कुवलयानन्द' में दीक्षित का नवीन उदाहरण तथा विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत घोड़े का उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं। भामह, दण्डी, जयदेव आदि के उदाहरण अच्छे नहीं कहे जा सकते। कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चित है कि संस्कृत के आचार्य सादगी में निहित सौन्दर्य की गरिमा की ओर से सजग थे और उन्होंने उसे महत्त्व प्रदान किया।

हिन्दी-काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति-विवेचन

हिन्दी काव्यशास्त्र को सामान्यत दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—पद्ययुगीन काव्यशास्त्र और गद्ययुगीन काव्यशास्त्र। पद्ययुगीन काव्यशास्त्र से तात्पर्य मुख्य रूप से रीतिकाल मे लिखा गया पद्यबद्ध लक्षणोदाहरण-युक्त काव्यशास्त्र है जबकि गद्ययुगीन काव्यशास्त्र आधुनिक काल मे गद्य का विकास होने पर लिखा गया। रीतिकालीन पद्यात्मक काव्यशास्त्र मूल-रूप मे सस्कृत आचार्यों के मतो, लक्षण और उदाहरणो का हिन्दी-उलथा है। उदाहरण अवश्य नये है परन्तु लक्षण और विवेचन मे कोई भी मौलिकता नही है। परन्तु गद्यात्मक काव्यशास्त्र अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। उसपर सस्कृत काव्यशास्त्र के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी प्रभाव है।

अन्य क्षेत्रो की भाँति ही, रीतिकालीन स्वभावोक्ति के विवेचन का आधार भी सस्कृत काव्यशास्त्र ही रहा। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि रीतिकाल मे स्वभावोक्ति के मात्र लक्षण-उदाहरण ही प्रस्तुत किये गये। कुन्तक और महिमभट्ट जैसा कोई भी गम्भीर विवेचन वहाँ नही हुआ। जहाँ तक गद्य-काल मे हुए स्वभावोक्ति-विवेचन का प्रश्न है वह दो रूप मे हुआ—एक तो सस्कृत ग्रन्थो का अनुशीलन कर आग्ल भाषा मे विचार व्यक्त करनेवाले लोगो ने आग्ल भाषा म लिखा, दूसरा सस्कृत और पाश्चात्य ग्रन्थो का अनुशीलन कर हिन्दी मे प्रौढ विवेचन करनेवाले विद्वानो द्वारा लिखा गया। पद्यात्मक काव्य-शास्त्र मे केशव, देव, मतिराम, कुलपति मिश्र, पद्माकर, भूषण, जसवन्तसिह आदि अनेक आचार्य कवि आते हैं। स्वभावोक्ति के विषय मे इनमे से किसी ने भी कोई मौलिक विवेचन न देकर मात्र लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अत' इनमे से कुछ कवियों के द्वारा दिये गये लक्षण-उदाहरणो पर विचार कर हम गद्यात्मक काव्यशास्त्र पर दृष्टिपात करेंगे।

केशव

केशव ने स्वभावोक्ति को दण्डी की भाँति ही अलकारो मे सर्वप्रथम

स्थान दिया है। वे इसके दो भेद करते हैं—

१. रूप-वर्णन।

२. गुण-वर्णन। उनका लक्षण है—

जाको जैसो रूप गुण, कहिये ताही साज।
तासों जाति स्वभाव कह, कहि बरनत कविराज॥[1]

उनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

रूप-वर्णन :

पीरी-पीरी पाट की, पिछौरी कटि केसोराल
पीरी-पीरी पागें पग, पौरिहें पनहियाँ।
बड़े-बड़े मोतिन की माला, बड़े-बड़े नयन
भृकुटि कुटिल नान्हीं-नान्हीं बरुनियाँ।
बोलनि, चलनि, मृदु हँसनि, चितौनि चारु
देखत ही बने पै न कहत बने हियाँ।
सरजू के तीर-तीर खेलें चारों रघुबीर
हाथ लिये तीर राती राति ये धनुहियाँ।

गुण-वर्णन :

गोरे गात, पातरी, न लोचन समात मुख
उर-उर भुजातन की, बात अवरोहियें।
हँसति कहत बात, फूल से झरत जात
ओंठ अवदात, राती रेख मन मोहियें।
स्यामल कपूर धर की ओढ़नी ओढ़े उड़ि
धूरि ऐसी लागी केशो उपमा न रोहियें।
काम ही की दुलही सी, काके कुल उलही सु
लहलही ललित लता सी लोल सोहियें॥

केशवदास के इस वर्णन में कोई भी नवीनता नहीं है। केवल दो ही भेद ग्रहण किये हैं; द्रव्य और क्रिया के भेद छोड़ दिये हैं। उदाहरण उनके स्वरचित हैं। दूसरे उदाहरण की अन्तिम दो पंक्तियाँ स्वभावोक्ति के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं, क्योंकि इनमें कवि निर्व्याजता को छोड़कर 'दुलही' की लता से उपमा देने लग जाता है।

---

१. चित्रलक्षण अथवा कविप्रिया, केशवदास, पृ० १८४

मतिराम

'ललितललाम' मे मतिराम ने स्वभावोक्ति का वर्णन जाति के नाम से किया है। उनका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है[1]—

जाति— जाको जैसो होय सो, बरनत जहाँ सुभाव।
तहाँ जाति यह नाम कहि, बरनत सब कविराव ॥३७२॥

उदाहरण—जानत जहान ऐंड़ करि सुलताननि सों
कीनों कछवाह कामधुज को बचाव है;
देत 'मतिराम' भाट चारन कविन जौन
कौन पैं गनायो जात गन समुदाय है।
तेग त्याग सालिम सपूत सत्रुलाल जू को
खीझें रन रुद्र रीझें माज दरियाव है;
साहनि सों अकसिबो हाथिन को बकसिबो
राव भावसिंह जू को सहज सुभाव है ॥

इनका लक्षण तो परम्परागत जाति-लक्षण है, परन्तु जो उदाहरण इन्होने प्रस्तुत किया है वह जातिगत न होकर व्यक्तिगत है, क्योकि इसमे राजा भावसिंह के स्वभाव का चित्रण है अत. स्वभावोक्ति का उदाहरण है। परन्तु यह स्वभावोक्ति का उदाहरण प्रकारान्तर से ही ठहरता है। किसी अन्य ने राजा के यश-वर्णन को, जो उसके स्वभाव से सम्बन्धित हो, कभी भी स्वभावोक्ति के रूप मे प्रस्तुत नही किया है।

भूषण

'शिव-भूषण' में भूषण ने स्वभावोक्ति का परम्परागत लक्षण प्रस्तुत करके दो उदाहरण प्रस्तुत किये है[2]—

अथ स्वभावोक्ति अलंकार वर्णनं :
सांचो त्यों ही बरनियै, जैसो जाति-सुभाव।
ताहि स्वभावोक्ती कहत, भूषन जे कविराव ॥३०५॥

उदाहरण (घनाक्षरी)—
उमड़ि कुडाल मे खवास खान आए
ह्वाँ तै सिवराज धाए जे भूषन पूरे मन के।
सुनि मरदाने बाजे हय हिहनाने घोर,
मूँछें तरराने मुख वीर धीर जन के।

---

१. मतिराम ग्रन्थावली, सम्पा० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० ४३५
२. भूषण, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २०२

एकै कहै मारु-मारु सम्हारु-सम्हारु एकै,
म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसुमार तन के।
कुण्डन के ऊपर कराके उठैं ठौर-ठौर,
जिरह के ऊपर खराके खरगन के ॥३०६॥

पुनि—

श्रागें-श्रागें तरुन तरायले चलत चले,
तिनके श्रमोद मद-मद मोद सकसै।
ऐंड़दार बड़े गड़ेदारन के हाके सुनि,
श्रड़े ठौर-ठौर महारोस रस श्रकसै।
तुण्डनाय सुनि गरजत गुजरत भौंर,
भूषन भनत तेऊ महामद छकसै।
कीरत के काज महाराज सिवराज सब,
ऐसे गजराज कविराजन कौं बकसै॥

उपर्युक्त दोनो ही उदाहरणो मे प्रथम उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। इसमे युद्ध-जनित अनुभावो का यथातथ्य वर्णन है। द्वितीय उदाहरण में दो स्वभाव एक-साथ वर्णित किये गए हैं—एक तो हाथियो का स्वभाव और दूसरे यश के लिए ऐसे हाथियो को दान करनेवाले शिवाजी का स्वभाव। दोनो ही उदाहरणो मे स्वभाव के प्रकार का अन्तर है। शिवाजी द्वारा दान दिये जाने का स्वभाव वास्तव मे सास्कृतिक परिवेश का प्रभाव है। यह वर्णन रीतिकालीन वातावरण मे व्याप्त चापलूसी का भी एक उदाहरण हो सकता है।

भिखारीदास

भिखारीदास ने 'चन्द्रालोक' की शैली के आधार पर दोहे के पूर्वार्द्ध मे स्वभावोक्ति का लक्षण करके उत्तरार्द्ध मे उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है—

स्वभावोक्ति बरनन अलकार 'दोहा' जथा—

सुधी-सुधी बात सों, स्वभावोक्ति पहचानि।
हरि आवत माथे मुकुट, लकुटि लिये बर पानि॥[1]

स्वभावोक्ति लिखनेवाले कवि के लिए सबसे बडा खतरा यही है, जो भिखारीदास के दोहे का उत्तरार्द्ध सकेतित करता है। 'हरि माथे पर मुकुट और हाथ मे लकडी लिये आते हैं', यह न तो पुष्टार्थ है और न इसमे काव्यत्व

१ काव्य निर्णय, सम्पा० डॉ० सत्येन्द्र, पृ० ६१

का कोई चमत्कार। परन्तु फिर भी उन्होंने इसको स्वभावोक्ति के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।

पद्माकर

पद्माकर ने 'पद्माभरण' मे भिखारीदास के समान ही स्वभावोक्ति का लक्षण करके उत्तरार्द्ध म उदाहरण प्रस्तुत किया है[1]—

अथ स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्ति बरनत जहाँ, केवल जाति सुभाव।
फरकत फाँदत फिरत फिरि, तुव तुरग रघुराव ॥२६२॥

यह उदाहरण भिखारीदास के उदाहरण की अपेक्षा कुछ अधिक सुन्दर है। रामचन्द्र के अश्व की स्वाभाविक क्रिया की ओर सकेत करता है।

यहाँ हमने केवल पाँच रीतिकालीन आचार्यों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। रीतिकाल के लगभग सभी आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलकार मानकर स्वभावोक्ति या जाति के नाम से उसका वर्णन किया है। यह वर्णन लक्षण और उदाहरण के ही रूप में है। इनम से किसी मे भी कोई नाविन्य नही है। अत अब हम गद्यकालीन विवेचकों की ओर ध्यान देंगे।

डॉ० राघवन्

डॉ० वी० वी० राघवन् ने स्वभावोक्ति का वर्णन तीन-चार स्थानो पर किया है। अपने शोध प्रबन्ध Bhoja's Shrangar Prakash के Bhoja and Svabhavokti नामक लेख मे, Some Concepts of Alankar Shastra नामक पुस्तक के History of Svabhavokti नामक लेख मे तथा उसी पुस्तक मे History of Bhavik नामक लेख मे और O R I E मे Mammat and Svabhavokti नामक लेख मे उनका स्वभावोक्ति विवेचन मिलता है। परन्तु यह वर्णन सैद्धान्तिक न होकर ऐतिहासिक है। History of Svabhavokti मे विभिन्न काव्यशास्त्रियो द्वारा जो कुछ कहा गया है उसको प्रस्तुत करके उनके मन्तव्य की व्याख्या की गई है। बाणभट्ट से लेकर रुय्यक तक की परम्परा का वर्णन उन्होने अपने ढग से किया है। भाविक अलकार वाले लेख मे उन्होंने स्वभावोक्ति तथा भाविक अलकार का वर्णन किया है। Bhoja and Svabhavokti म भोज के मन्तव्य का पाडित्य के साथ प्रतिपादन किया है।

डॉ० राघवन् ने स्वभावोक्ति के अलकारत्व और काव्यत्व के प्रश्न पर अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया है और न ही इस प्रश्न को किसी प्रकार से

---

१ पद्माकर, आकर ग्रन्थमाला, सम्पा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६५

महत्त्व दिया है। इस प्रश्न को उठानेवाले कुन्तक का भी उन्होंने अत्यन्त सक्षेप मे वर्णन किया है। सम्भवत ऐसा इस कारण है कि उनकी प्रेरणा का केन्द्र भोज है, कुन्तक नही। परन्तु फिर भी भोज, मम्मट और रुय्यक के विवेचन और स्वभावोक्ति के इतिहास के प्रसग मे यत्र-तत्र उन्होंने जो वर्णन किये हैं उनसे उनके विचारो का पता लगाया जा सकता है।

'शृगार प्रकाश' की आलोचना में उन्होने जो स्वभावोक्ति का वर्णन किया है उसमे उन्होने लिखा है कि विचारो को दो ही भागों मे विभक्त किया जा सकता है—वस्तु-सवाद और चित्त-सवाद। वस्तु-सवाद स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है और चित्त सवाद रस के अन्तर्गत। इस प्रकार वे काव्य के दो ही भेद मानते हैं—स्वभावोक्ति और रसोक्ति। भोज के त्रिविध वर्गीकरण को वे अस्वीकार करते हैं। उन्होंने भोज की इस कल्पना को अस्पष्ट बताया है कि स्वभावोक्ति गुण-प्रधान है। स्वभावोक्ति के अलकारत्व के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि वस्तुओ की दो ही सत्ताएँ होती हैं—जातिगत और नामगत। इन्ही का दूसरा नाम है निर्विकल्पक और सविकल्पक। सरल शब्दो मे हम इन्हे सामान्य-सत्ता और विशिष्ट-सत्ता कह सकते हैं। सामान्य का सम्बन्ध जाति से है और विशिष्ट का व्यक्ति से। राघवन् के अनुसार जहाँ तक यह विशिष्ट स्वभाव 'सिद्ध' न होकर कवि-प्रतिभा द्वारा साध्यमान होता है यह एक अलकार है—

In as much as this Vishisht Svabhav is not 'Sidha' but is 'Sadhyaman' through the play of Poet's Pratibha, it is an Alankar[1]

राघवन् के उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वे स्वभाव के विशिष्ट रूप को ही स्वभावोक्ति अलकार का विषय मानते हैं, सामान्य को नहीं। 'वस्तु का यह विशिष्ट रूप कवि-प्रतिभा द्वारा साध्यमान होने पर अलकार होता है', इसका अर्थ है कि जहाँ कवि जातिगत विशेषताओ के बीच से अपनी प्रतिमा के बल पर उसकी व्यक्तिगत या विशिष्ट विशेषताओ को अलग से पकडकर उनका वर्णन करता है—व्यक्ति को जाति से अलग करता है वहाँ स्वभावोक्ति अलकार होता है। हमारे विचार से सिद्ध विशिष्ट स्वभाव से उनका तात्पर्य जातिगत विशेषता से ही है, अन्य कुछ नही।

यद्यपि राघवन् के स्वय के स्वभावोक्ति सम्बन्धी विचार न तो कुन्तक के प्रश्नो का उत्तर ही देते हैं और न ही स्पष्ट हैं तथापि उनका महत्त्व सैद्धान्तिक विवेचन मे न होकर स्वभावोक्ति सम्बन्धी सामग्री को ऐतिहासिक क्रम मे प्रस्तुत

१ Some Concepts of Alankar Shastra, History of Svabhavokti, Dr Raghavan

करने मे है। यो उन्होने अपने विवेचन मे भामह, मम्मट और रुय्यक के सम्बन्ध मे अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं जिनका सम्बन्ध स्वभावोक्ति से है और उनके उत्तर भी प्रस्तुत किये हैं।

× × ×

अंग्रेजी मे लिखनेवाले विद्वानो मे से डॉ॰ राघवन् के अतिरिक्त अन्य किसी भी विद्वान् ने स्वभावोक्ति पर विचार नही किया है, प्रसगवश ही कही कुछ कहा है। अपनी History of Sanskrit Poetics Part II मे कुन्तक के विवेचन मे, Kuntak's Vakrokti Jivitam की भूमिका मे तथा Indian Poetics as a Study of AEsthetics मे भी कुन्तक के प्रसग मे डॉ॰ एस॰ के॰ डे ने स्वभावोक्ति का वर्णन किया है। डॉ॰ राघवन् की भाँति इन्होंने भी स्वभावोक्ति के अलकारत्व के विषय मे कोई मत प्रस्तुत नही किया है। उनका विवेचन पूर्णतः ऐतिहासिक है। इसी प्रकार पी॰ वी॰ काने तथा कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भी इस सम्बन्ध मे कोई विवेचन नही किया है।

कन्हैयालाल पोद्दार

प्राचीन परिपाटी के आधार पर अलकारो का विवेचन करनेवाले हिन्दी के विद्वान् श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने इस विषय को स्वभावोक्ति के प्रसग मे कुछ लिया अवश्य है परन्तु विस्तार के साथ कोई विवेचन नही किया है। वे कुन्तक के विरुद्ध खडे होकर स्वभावोक्ति के अलकारत्व का समर्थन करते हैं—"वक्रोक्ति जीवितकार राजनक कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलकार नही माना है। किन्तु यह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व माननेवाले राजनक कुन्तक का दुराग्रह-मात्र है। प्राकृतिक दृश्यो के स्वाभाविक वर्णन वस्तुत चमत्कारक और मनोहारी होते हैं।"

स्पष्ट है कि वे स्वभावोक्ति को भी चमत्कार से युक्त मानते हैं और उसी चमत्कार के कारण वे उसे अलकार मानते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका आधार भी स्पष्टत कुन्तक ही है। उनके अनुसार स्वभावोक्ति अलकार नही, वर्ण्य विषय है। अलकार तो वर्णन-प्रणाली का एक प्रकार है। रूप का वर्णन अलकार नही हो सकता। इसके अतिरिक्त उन्होने स्वभावोक्ति के किसी निश्चित लक्षण के अभाव को भी अलकारत्व के विरुद्ध एक प्रमाण माना है। 'चिन्तामणि' (भाग-१) के 'कविता क्या है' नामक लेख मे उन्होंने लिखा है—

"प्राचीन गडबडझाला मिटे बहुत दिन हो गये। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-

प्रणाली बहुत दिन से एक-दूसरे से अलग कर दी गई हैं। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-सी बातो के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलकार प्रस्तुत या वर्ण्य-वस्तु नही वरन् वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं और अलकार नहीं कहे जा सकते, जैसे—स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो अलकार है। पर स्वभावोक्ति अलकार की कोटि मे आ ही नही सकती। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी भी अलकार-प्रणाली के अन्तर्गत ला सकते हैं, किसी वस्तु-विशेष से किसी अलकार-प्रणाली का सम्बन्ध नही हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नही रह सकती। वस्तु-निर्देश अलकार का काम नही है, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओ, चेष्टाओ और व्यापारों का वर्णन किन-किन रसो के विभावो और अनुभावो के अन्तर्गत आता है इसकी सूचना रस-निरूपण के अन्तर्गत ही हो सकती है।

"अलकारो के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नही सका है। 'काव्यप्रकाश' की कारिका मे यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्ति डिम्भादे स्वक्रिया रूप वर्णनम्।

अर्थात् "जिसमें बालकादिको की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है यही स्पष्ट नहीं है। अत यही समझा जा सकता है कि वस्तु के स्वाभाविक रूप और व्यापार का वर्णन ही स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूप-चेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलकारिता पर विचार कीजिये। वात्सल्य मे बालक के रूपादि का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु के रूप, क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलकार-क्षेत्र मे हम कभी नही ले जा सकते। मम्मट ही के ढग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलकार सर्वस्वकार राजनक रुय्यक कहते हैं—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णन स्वभावोक्ति।

आचार्य दण्डी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थाना साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलकार के अन्तर्गत आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने भी इसे अलकार नहीं माना है।"[1]

---

[1] चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८४

इस प्रकार वे स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का एकान्त विरोध करते हैं, परन्तु उसके काव्यत्व तथा सौन्दर्य के वे एकान्त प्रशंसक हैं। अलंकारों की भरमार से आवृत्त काव्य की अपेक्षा उन्हें वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य ही अधिक प्रिय है। 'कविता क्या है' नामक लेख में वे लिखते हैं—

"इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य का लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार कोई वाक्य चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो यदि उक्ति-वैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्ति-वैचित्र्य हो वह खासा काव्य कहा जायगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा सादा वाक्य लीजिये—

नैन नचाय कही मुसकाय, लला फिर खेलन आइयो होरी।

अथवा मण्डन का यह सवैया लीजिये—

या निरमोहिनी रूप की रासि ''

"मण्डन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलवाए हैं, वे ऐसे ही हैं, जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर, नये प्रेमी के वितर्क की सीधे-सादे शब्दों में बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है ?"[1]

शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत किये गए ये सभी पद स्वभावोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शुक्लजी ने चमत्कार तथा अलंकारों से भरपूर उक्तियों के मुकाबले इनको कवित्व से भरपूर माना है। केवल इतना ही नहीं है कि शुक्लजी ने इनका काव्यत्व स्वीकार किया है वरन् उन्होंने काव्य में स्वाभाविकता के तत्त्व पर अत्यधिक बल दिया है। विभिन्न प्रसंगों में स्थान-स्थान पर अनेक ऐसे वाक्यों को उन्होंने लिखा है, जो स्पष्टतः काव्य में इस तत्त्व की महत्ता को बल देते हैं—

१ असाधारणत्व की रुचि सच्ची कविता की पहचान नहीं है।

—चिन्तामणि, भाग-१, पृ० १५०

२ और हृदयों से अपने हृदयों की विशेषता दिखाने के लिए बहुत-से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्य-क्षेत्र नकली हृदयों का कारखाना हो गया। —चिन्तामणि, भाग-१, पृ० २३८

३ जहाँ तथ्य केवल सम्भावित या आरोपित रहते हैं वहाँ वे अलंकार-

---

१ चिन्तामणि, भाग १

रूप में ही रहते हैं। परन्तु जिन तथ्यों का आभास हमें पशु पक्षियों के रूप-व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में ही हो सकते हैं। —चिन्तामणि, भाग-१, पृ० १५२

इसके अतिरिक्त उनकी सौन्दर्य-कल्पना से भी यही ध्वनि निकलती है कि वे काव्य में स्वाभाविकता के तत्त्व को परमावश्यक मानते हैं। वे वस्तुगत सौन्दर्य के उपासक हैं। मानव भावों के रम्य रूपों के अतिरिक्त उन्हें झूमते हुए कीरों और सूखे ठूँठ पेड़, घी चीकनेवाली बुढ़िया, गाय, कुत्ता और बिल्ली में भी सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। इस सभी में अस्वाभाविकता, चमत्कार और बनावट के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम शुक्लजी के मत के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(अ) स्वभावोक्ति अलंकार-क्षेत्र की वस्तु न होकर रस-क्षेत्र की वस्तु है।
(ब) इसको इसलिए भी अलंकार नहीं माना जा सकता कि इसका कोई सामान्य लक्षण नहीं हो सका।
(स) जो लक्षण हुए हैं वे अपने-आप में अस्पष्ट है।
(द) यद्यपि यह अलंकार नहीं है, फिर भी यह तत्त्व काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

डॉ० गुलाबराय

बाबू गुलाबराय पुरानी पीढ़ी के प्रतिभाशाली आलोचकों में माने जाते हैं। उन्होंने स्वभावोक्ति के विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है। परन्तु मेरे व्यक्तिगत पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा है—"स्वभावोक्ति को मैं अलंकार मानता हूँ। सादगी भी एक कला है। सादगी में सौन्दर्य लाना विरले ही जानते हैं। सादगी में भी एक कला है जिसको सूर और तुलसी जैसे विरले कवि ही सफलता के साथ दिखा सके हैं। 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी', 'दाऊ मोहि बहुत खिझायो' आदि अनेक उदाहरण हैं।"

स्पष्ट है बाबूजी मानते हैं कि सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन तो कोई भी कर सकता है, परन्तु सादगी को सौन्दर्य के साथ अभिव्यजित करना यह सूर और तुलसी सरीखे कुछ ही लोगों का कार्य है। उपमा, रूपक आदि अलंकार तो कोई भी *कवि लिख सकता है, परन्तु बिलकुल सीधे-सादे निर्व्याज वर्णन में* चमत्कार तथा सौन्दर्य लाना ही स्वभावोक्ति अलंकार है। इसी कारण स्वभावोक्ति अलंकार है।

बलदेव उपाध्याय

अपनी पुस्तक 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (पृ० २३८) मे श्री उपाध्याय ने स्वभावोक्ति का विवेचन किया है। पहले भामह आदि सभी के मतो का विवेचन कर अन्त मे अपना निर्णय दिया है। उपाध्यायजी के विवेचन का आधार डॉ० राघवन् का विवेचन है। उनकी तथा डॉ० राघवन् की लगभग सभी मान्यताएँ एक ही हैं। भामह, दण्डी, उद्भट तथा कुन्तक के विषय मे दोनो के निर्णय लगभग समान हैं। स्वभावोक्ति के अलकारत्व का खण्डन तथा कुन्तक का समर्थन करते हुए उन्होने लिखा है, "स्वभाव-कथन अलकार न होकर सर्वथा अलकार्य ही रहता है, कुन्तक का यह सिद्धान्त कथमपि उपेक्षणीय नही है।"[1] अत स्वभावोक्ति के अलकारत्व के विषय मे उनकी धारणा एकदम स्पष्ट है। काव्य मे स्वाभाविकता के तत्त्व पर उन्होने कोई विवेचन नही किया है।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र रसवादी परम्परा के उन आलोचको मे से हैं, जिन्होने रस का आधार लेकर आधुनिक काल के विकसित मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि मे काव्य की आलोचना की है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', भाग-२ मे उन्होने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के साथ स्वभावोक्ति की तुलना के प्रसग मे स्वभावोक्ति के इतिहास तथा उसके अलकारत्व के प्रश्न पर विचार किया है। विवेचन मे पहले तो डॉ० राघवन् के आधार पर ऐतिहासिक विचार दिखाया गया है और फिर स्वभावोक्ति के अलकारत्व के प्रश्न पर पक्ष-विपक्ष के तर्कों को क्रमबद्ध रूप मे उपस्थित कर अन्त मे अपना निर्णय दिया है। ऐतिहासिक क्रम मे विवेचन का आधार डॉ० राघवन् ही हैं, परन्तु रामचन्द्र शुक्ल के विषय मे विवेचन उनका अपना है। शुक्लजी के उद्धरण प्रस्तुत कर उनके तर्कों को उपस्थित किया गया है। परन्तु स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति का सम्बन्ध निरूपण करने के पूर्व उन्होंने इस शीर्षक की भूमिका रूप मे 'वक्रोक्ति और अलकार' शीर्षक के अन्तर्गत क्रोचे का खण्डन कर अलकार तथा अलकार्य का भेद स्थापित किया गया है। यह विवेचन अत्यन्त प्रौढ और शास्त्रीय है और इसी विवेचन के आधार पर उन्होने स्वभावोक्ति के अलकारत्व का खण्डन किया है।

कुन्तक के इस तर्क को डॉ० नगेन्द्र अधिक पुष्ट नही मानते कि—यदि स्वभाव-कथन अलंकार है तो जनसाधारण के सभी वर्णन अलकार हो जायेंगे, क्योकि कोई भी वस्तु स्वभाव-कथन के बिना सम्भव नही है। उनके अनुसार

---

१ भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, पृ० २३८

स्वभावोक्ति के समर्थक इसका यह उत्तर दे सकते हैं कि स्वभाव मात्र का कथन स्वभावोक्ति नहीं है। स्वभाव के सामान्य रूप को त्यागकर विशेष रमणीय रूप का ग्रहण ही स्वभावोक्ति है। इस सम्बन्ध मे वे कुन्तक के इस दूसरे तर्क को अधिक पुष्ट और सबल मानते हैं कि यदि स्वभाव-वर्णन अलकार है तो अलंकार्य क्या है ? उनके अनुसार विरक्ष के पास इसका कोई उत्तर नही है। वे महिमभट्ट के आधार पर हेमचन्द्र द्वारा दिये गए इस उत्तर को तर्क-सम्मत नही मानते कि पदार्थ का सामान्य रूप अलकार्य तथा शरीर है, विशेष प्रतिभा-गोचर रूप अलकार है। उनका कथन है—"सामान्य हो या विशेष, रूप तो रूप ही रहेगा, अलकरण का साधन कैसे होगा ? काव्य मे व्यवहारत यह होता नही है और हो भी नही सकता। स्वभावोक्ति के जितने भी उदाहरण काव्य-ग्रन्थो मे दिये हुए हैं उनमे सामान्य का अलकार्य रूप मे और विशेष का अलकार रूप मे प्रयोग नही मिलता—वास्तव मे सामान्य को तो अवाच्य मानकर छोड ही दिया जाता है, विशेष का ही वाचन होता है।"[1]

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का प्रसिद्ध श्लोक 'ग्रीवाभगाभिरामम्…' इत्यादि का उदाहरण लिया है। 'गोरपत्य बलीवर्दं… ' इत्यादि का स्वभावोक्ति से अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने इस अन्तर को पुष्टार्थ और अपुष्टार्थ का अन्तर माना है। ग्रीवाभगाभिरामम् ' मे हेमचन्द्र ने चार टाँग, दो आँख, दो कानवाले हरिण को अलकार्य तथा उसकी पदगत क्रियाओ को अलकार माना है। परन्तु डॉ० नगेन्द्र इससे सहमत नही हैं। उनके अनुसार ऐसा मृग तो काव्य के लिए अवाच्य ही रहा है। कवि की परिष्कृत दृष्टि ने तो हरिण की केवल सुन्दर क्रियाओ का ही वाचन किया है, जो अलकार्य-स्वरूप हैं, अलकार नही—

"एक तो मृग का सामान्य रूप जिसे अलकार्य कहा जा सकता है प्रस्तुत छन्द म वर्णित ही नही है प्रकृति मे उसकी स्थिति अवश्य है, उसके आधार पर पाठक की कल्पना म भी हो सकती है, किन्तु विवेच्य कविता म उसकी स्थिति नही है। वह विज्ञान का सत्य है, काव्य का सत्य नही, अतएव काव्य के लिए अवाच्य रहा। ऐसी स्थिति म जिसे हेमचन्द्र ने अलकार्य कहा है उसका तो काव्य मे ग्रहण ही नही होता। जैसा कि कुन्तक ने कहा है कि काव्य का वर्ण्य तो स्वभाव से ही सुन्दर स्वपरिस्पन्द सुन्दर ही होता है। अलकार और अलकार्य दोनो की सहस्थिति होनी चाहिए , यह नही हो सकता कि अलकार कविता मे हो और अलकार्य प्रकृति मे या पाठक के मन मे। दूसरे हाव, भाव, शोभा, कान्ति के लिए शोभा शब्द का प्रयोग केवल लाक्षणिक है। शोभा कान्ति

---

१ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका भाग २, पृ० ३२६

आदि शरीर के ही विकार हैं अतएव वे शरीर ही हैं। उन्हें अलकार तब तक नही माना जा सकता जब तक कि वामन के अनुसार 'सौन्दर्यमलकार' न मान लिया जाय। परन्तु वामन के मत की अतिव्याप्ति सिद्ध हो चुकी है। अलकार के कार' मे निहित कृतित्व या प्रयत्न-साध्यता उसकी परिधि को प्रसाधन तक ही सीमित कर देती है। वास्तव मे महिमभट्ट और हेमचन्द आदि का तर्क स्वभावोक्ति के काव्यत्व को तो सिद्ध कर देती है, परन्तु उसको तो कुन्तक भी अस्वीकार नही करते। प्रश्न स्वभावोक्ति के अलकारत्व का है जिसकी सिद्धि नही होती।"[1]

जैसा कि कहा जा चुका है नगेन्द्रजी रसवादी आलोचक हैं। उन्ही के अनुसार—रस सिद्धान्त को मान लेने के उपरान्त स्वभावोक्ति का अलकारत्व स्वीकार कर लेना सम्भव नही है। सक्षेप मे हम स्वभावोक्ति के उनके विवेचन को इस प्रकार रख सकते हैं—

(अ) काव्य के तीन प्रमुख तत्त्व हैं—सत्य, भाव और कल्पना। साहित्य के विभिन्न रूपो मे इनका महत्त्व विभिन्न अनुपातों मे रहता है। इनमे सत्य का अर्थ है सहज रूप। जहाँ कहीं जीवन और जगत् के सहज या प्रस्तुत रूप का चित्रण प्रधान होता है, वही स्वभावोक्ति है।

(ब) स्वभावोक्ति अलकार्य है, अलकार नही। ध्वनि की स्थापना से अलकार-अलकार्य का अलग-अलग विवेचन होने के पश्चात् इसे अलकार नही माना जा सकता।

(स) महिमभट्ट और हेमचन्द्र के तर्कों मे यह दोष है कि उन्होने अलकार्य को कवि और काव्य से अलग प्रकृति मे स्थित माना है तथा अलकार को काव्य में। यह शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं। दोनो की स्थिति काव्य मे ही अपेक्षित है।

(द) भरत की अयत्नज अलकार की कल्पना के आधार पर भी इसे अलकार नही कह सकते, क्योंकि शोभा-कान्ति आदि शरीर के ही विकार हैं। वामन के 'सौन्दर्यमलकार' के आधार पर इन्हें अलकार कह सकते हैं पर वामन के इस सूत्र की अतिव्याप्ति सिद्ध हो चुकी है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'वाङ्मय-विमर्श' मे

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् की भूमिका, पृ० १४६

'भारतीय साहित्य-शास्त्र' के अन्तर्गत अलंकार-मत के विवेचन में स्वभावोक्ति पर विचार किया है। वे स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं। इसके पक्ष में उनका तर्क बड़ा ही आनन्ददायी है। वे कहते हैं कि स्वभावोक्ति में कोई शैली-विशेष नहीं है अत. वहाँ 'अभाव रूप' शैली है। वक्रता और अतिशयतापूर्ण उक्तियों में अलंकारत्व होता है। यहाँ अतिशयता और वक्रता का सद्भाव होता है। परन्तु इनके अभाव में भी अभाव-रूप शैली सामने आ जाती है। यही स्वभावोक्ति है—

"जहाँ अतिशयता न हो ऐसी भी काव्य की उक्तियाँ थीं। उन्हीं को अलंकारिकों ने रसवत् और स्वभावोक्ति के रूप में माना है। अन्य अलंकारों में अतिशयता या वक्रता भाव-रूप होती है। यहाँ अभाव-रूप है। इसके लिए एक उदाहरण लीजिये। श्री लक्ष्मीकान्तजी त्रिपाठी ने हिन्दी की गद्य-शैलियों पर एक पुस्तक लिखी है, जिसमें हिन्दी के गद्य-लेखकों की शैली पर विचार किया है। प्रत्येक लेखक की शैली की कुछ-न-कुछ विशेषता उन्होंने ढूँढ निकाली है। जब वे बाबू श्यामसुन्दर दास की शैली की विशेषताएँ ढूँढने लगे तो कठिनाई में पड़े। अन्त में उन्होंने बताया कि बाबू साहब की शैली की विशेषता यह है कि इसमें कोई शैली नहीं। इस प्रकार अभाव-रूप में उनकी शैली की विशेषता निरूपित हुई। 'अभाव' के इसी महत्त्व के कारण प्रभाकर ने 'अभाव' को एक पदार्थ माना है। तर्कशास्त्र में इसके द्वारा बहुत सी गुत्थियाँ सुलझती हैं। जैसे घट बनने के पूर्व घट नहीं था और टूटने के अनन्तर वह नहीं रह जायगा—ऐसी स्थिति में उनका अभाव था या होगा। इसे प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कहते हैं। स्वभावोक्ति में सचमुच कोई शैली नहीं है, पर शैली का अभाव भी एक शैली है। काव्य में शैली के समस्त अभाव नहीं लिये गये। स्वभाव की उक्ति ले ली गई और रस की उक्ति ले ली गई। रस की उक्ति में आगे चलकर विस्तार हुआ।·············अलंकारिक रस-भाव आदि से, उसके स्वरूप से परिचित थे। अलंकार और अलंकार्य का भेद जानते थे। ऐसा नहीं कि उन्होंने भ्रम से इन सबकी कल्पना कर ली थी।"[1]

इस पुस्तक में उन्होंने यही तर्क दिया है। परन्तु मुझे व्यक्तिगत रूप से एक पत्र लिखते हुए उन्होंने इसका थोड़ा-सा विस्तार के साथ विवेचन किया है। महिमभट्ट के विषय में टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—"जहाँ रसोक्ति होगी वहाँ काव्यत्व व्यंग्य-अर्थ में होगा और जहाँ वक्रोक्ति होगी वहाँ काव्यत्व व्यंजक पद में होगा। अवश्य ही केवल पद में काव्यत्व न होगा। उसका अर्थ भी साथ ही रहना चाहिये। सहितत्व के बिना साहित्य न होगा। अत काव्य

---

१ वाङ्मय विमर्श—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १६४

शब्दार्थ होता है। इस शब्दार्थ मे जो सजावट होगी वह अलकार होगा। उक्ति को वक्र न कहकर सीधे कहा जाय तो अलंकारत्व आना ही चाहिये। यह घुमाव उक्ति मे भी हो सकता है और कवि-कल्पना द्वारा रूप या स्वभाव के अकन मे भी। महिमभट्ट का कहना है कि कवि कल्पना द्वारा जहाँ कोई अकन होगा वह सीधा सादा न होगा। अतः अलकारत्व हो गया। अत यह कहना कि महिमभट्ट के कथन से काव्यत्व की ही सिद्धि होती है ठीक नही है।"[1]

वे स्वभावोक्ति को केवल अलकार तक ही सीमित नहीं रखना चाहते। वक्रोक्ति की भाँति उसे भी विस्तृत रूप मे देखना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत वे चरित्र-चित्रण तथा असाधारणीकरण से युक्त काव्यो का समाहार करते हैं। मुझे एक अन्य पत्र मे उन्होने लिखा है—" 'वक्रोक्ति जीवितम्' मे वक्रोक्ति का जो स्वरूप प्रतिपादित है वह वक्रोक्ति नामक अलकार से भिन्न है। वैसे ही स्वभावोक्ति का विस्तार उस स्वभावोक्ति-मात्र से भिन्न प्रतिपादित हो सकता है। पश्चिमी प्रदेशो के अनुधावन से हिन्दी के गद्य-ग्रन्थो या काव्य-ग्रन्थो मे चरित्र-चित्रण का माहात्म्य बहुत अधिक हो गया है, वह स्वभावोक्ति का विस्तार है। जैसे वार्ता को भिन्न करते हैं वैसे ही स्वभावोक्ति को भी। आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण मे रामादि पात्रो का स्वभाव-कथन है। उसका कवि-मानस मे उद्भावित कुछ न-कुछ रूप अवश्य है। भरत और लक्ष्मण के स्वभाव मे अन्तर रखा ही गया है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इन पात्रो के स्वभाव की जो कल्पना की है वह भले ही पाश्चात्य प्रभावापन्न मानी जाय, पर वाल्मीकि, तुलसी आदि ने जो स्वभाव कल्पना की है वह सर्वथा भारतीय है। उस असाधारणीकरण को स्वभाव के विस्तार के अन्तर्गत बडे मजे से किया जा सकता है। मेरी धारणा है कि अलकारिको के अलकारो मे से बहुतो का विस्तार हो सकता है। विरोधाभास, समासोक्ति, अन्योक्ति, मुद्रा आदि कई ऐसे हैं, जिनका प्रत्यक्ष विस्तार देखा जाता है। वैसे ही स्वभावोक्ति का भी।"[2]

दण्डी ने स्वभावोक्ति के जिस व्यापक स्वरूप की कल्पना की है, उसी को मिश्रजी कुछ दूसरे ही शब्दों म व्यक्त करत हैं। उनका कथन है— 'स्वभावोक्ति काव्यस्त मूलम्।' इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं— " 'काव्यस्त मूलम्' यो कहना पडता है कि चाहे रस हो चाहे वक्रोक्ति, ये किसी-*न-किसी आधार पर ही तो काव्य मे आते हैं। किसी के अन्त करण के स्वभाव* ही को तो बताते हैं। यह अन्त करण चाहे काव्य के पात्र का हो चाहे कवि का ही हो। जिस अन्त करण से रस की उक्ति निकलती है या वक्र-उक्ति प्रकट होती

१ देखिये परिशिष्ट २

२. देखिये परिशिष्ट १

है वह उस अन्त करण का स्वभाव ही तो होता है।"

असाधारणीकरण से युक्त काव्य किस प्रकार स्वभावोक्ति और शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत आ सकता है जबकि रामचन्द्र शुक्ल ने उसे नक्ली हृदय कहा है, इस प्रश्न के उत्तर मे वे लिखते है—

'आचार्य शुक्ल ने जिन्हे नक्ली हृदय कहा है, वे वस्तुजगत् मे नही मिलते इसलिये। पर लखक ने जिन पात्रा का निर्माण किया है, उन पात्रों के स्वभाव को उसने आपके सामने रख दिया। साधारणीकरण न हो, परन्तु स्वभावोक्ति कहने मे बाधा कहाँ है? वह लेखक की कल्पना के पात्रो का स्वभाव है। जहाँ रस का प्रश्न खडा होगा वहाँ नक्ली हृदय के कारण रसावस्था में बाधा खडी हो सकती है, परन्तु मनोरजन म कहाँ बाधा है? तिलिस्मी कथाओ के पात्रो को लीजिये। सारी कोरी कल्पना रहती है। फिर भी चाव से लोग उन कथाओ को पढते हैं। काव्य मे जहाँ कोरा उक्ति-वैचित्र्य रहता है वहाँ रस कहाँ होता है? फिर भी साहित्य तो माना हो जाता है। आप घटिया कह लीजिये।"

उपर्युक्त विवरण के आधार पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के तर्कों का साराश इस प्रकार रखा जा सकता है—

(अ) स्वभाव-वर्णन जहाँ कवि-कल्पना-प्रसूत होता है वहाँ वह अवश्य ही कुछ वक्रता लिये हुए होता है। अत उसमे अलकारत्व होता ही है। अत स्वभावोक्ति एक अलकार है।

(ब) क्योकि स्वभावोक्ति की कोई विशिष्ट शैली नही है अत यहाँ अभाव-रूप शैली होने के कारण अलकारत्व है।

(स) वक्रोक्ति की ही भाँति स्वभावोक्ति का भी विस्तार सम्भव है। 'स्वभावोक्ति काव्यस्त मूलम्' सरलता स सिद्ध कर सकते हैं।

(द) इसकी सीमा म सभी चरित्र-चित्रण तथा असाधारणीकरण से युक्त काव्य आ जाता है।

आधुनिक स्वभावोक्ति-विवेचन का निष्कर्ष

आधुनिक काल मे लक्षण ग्रन्थो और शोध-परक ग्रन्थो मे स्वभावोक्ति का जो विवेचन हुआ, वह अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और वैज्ञानिक रहा। इस विवेचन मे स्वभावोक्ति के अलकारत्व के प्रश्न के अतिरिक्त अन्य प्रश्नो पर भी विचार किया गया। इस काल के विवेचन का आधार निश्चित ही सस्कृत काव्यशास्त्र रहा और सस्कृत काव्यशास्त्र मे उठाया गया प्रश्न बिना उसकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत किये हल हो भी नही सकता था। जिन प्रश्नो पर मुख्य रूप से विचार किया गया वे सक्षेप म इस प्रकार हैं—

(१) स्वभावोक्ति के अलकारत्व का प्रश्न—इस प्रश्न पर यद्यपि

प्राचीन काल की भाँति इस काल मे भी मतभेद रहा और स्वभावोक्ति को अलकार माननेवाले विचारक सामने आये, परन्तु अब यह मत लगभग स्थिर हो गया है कि स्वभावोक्ति अलकार नहीं, अलकार्य है।

(२) गुण-प्रधानता पर विचार - डॉ० राघवन् ने पहली बार इस प्रश्न को उठाया कि स्वभावोक्ति गुण प्रधान है—इसका क्या अर्थ है और गुण-प्रधान कहने से भोज का क्या तात्पर्य था?

(३) काव्यत्व पर विचार—डॉ० नगेन्द्र ने यह सिद्ध किया कि स्वभावोक्ति का काव्यत्व असन्दिग्ध है। महिमभट्ट ही नही, कुन्तक भी उसको काव्यत्व से भिन्न नही मानते।

(४) अर्थ-विस्तार—स्वभावोक्ति के अर्थ-विस्तार की ओर विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने सकेत किया और उसके क्षेत्र मे सामान्य तथा असामान्य सभी प्रकार के चरित्र-चित्रणो का समाहार करने का प्रयास किया।

अब तक स्वभावोक्ति पर जो कुछ लिखा गया है वह इन अध्यायो मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आगामी दो अध्यायो मे क्रमशः उसके वर्ण्य-विषय और शैली-पक्ष पर विचार किया जायगा।

स्वभावोक्ति का भाव-पक्ष

स्वभावोक्ति का अर्थ है स्वभाव की उक्ति अर्थात् स्वभाव इसका वर्ण्य-विषय है और उस स्वभाव की उपस्थिति जिस उक्ति के माध्यम से होती आई है उस उक्ति का वैशिष्ट्य है इसका कला-पक्ष। इस अध्याय मे स्वभावोक्ति के भाव-पक्ष अर्थात् स्वभाव पर विचार किया जायगा। सर्वप्रथम हम स्वभाव के सामान्य स्वरूप पर विचार करेंगे और उसके उपरान्त काव्य मे उसकी स्थिति पर।

साधारणत स्वभाव शब्द निम्नलिखित चार विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है—

१. अस्तित्व के अर्थ मे।
२. वस्तुओ के मूल गुणो के अर्थ मे।
३. जड वस्तुओ से भिन्न चेतनशील प्राणियो की विशेषता के रूप मे।
४. मानव-स्वभाव के अर्थ मे।

१ स्वभाव—अस्तित्व के अर्थ मे

'भाव' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है, 'अस्तित्व'। 'भू' धातु का अर्थ है 'होना'। अतः भाव का अर्थ हुआ 'जो है'। 'अभाव' अर्थात् अ+भाव (जो नहीं है), भाव के इसी अर्थ का निषेध करनेवाला विपरीतार्थक शब्द है। 'भाव' शब्द मे 'स्व' उपसर्ग जोडकर बननेवाले इस 'स्वभाव' का अर्थ होगा 'स्व' का 'भाव' अर्थात् किसी वस्तु की अपनी स्थिति। गीताकार का कथन है 'जिस वस्तु का भाव (अस्तित्व) है उसका अभाव (अनस्तित्व) नही किया जा सकता और जिस वस्तु का अभाव है उसको भाव-रूप मे परिणत नही किया जा सकता।"[1] आधुनिक विज्ञान का 'पदार्थ के अविनाशत्व का नियम' भी इसी बात को दुहराता है।[2] अतः इन दोनो ही उक्तियो के आधार पर भाव शब्द पदार्थ का वाची है।

---

१. नासतो विद्यते भाव नाभावो विद्यते सत।

२. *'Law of indestructibility of matter' is ons of the four laws* of chemical combinations.

'शब्द-कल्पद्रुम' मे स्वभाव के चार पर्यायो[१] मे से एक पर्याय है 'स्वरूप'। 'रूप' शब्द वस्तु की भौतिक स्थिति की ओर सकेत करता है। प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, अपना कुछ न-कुछ रूप रखती है। रूप परिवर्तनशील होता है। परन्तु रूप-परिवर्तन के बाद भी वस्तु का अस्तित्व आधार-रूप मे स्थित रहता है। स्वरूप का परिवर्तन वस्तु के अस्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रकार का अन्तर है। साख्य-दर्शन' म अस्तित्व के लिये प्रकृति शब्द का प्रयोग किया गया है। विकृति और सस्कृति प्रकृति मे ही होती है। तात्पर्य यह कि प्रकृति या स्वभाव वह पदार्थात्मिक आधार है जो परिवर्तन के कारण विकृति या सस्कृति के रूप मे प्रतिफलित होता है।

अग्रेजी मे स्वभाव शब्द का पर्याय है nature। 'ऑक्सफोर्ड इग्लिश डिक्शनरी' मे natural के अन्य अनेक अर्थों के साथ तीन अर्थ ऐसे भी हैं जिनका मन्तव्य है पदार्थ की भौतिक जगत् मे सत्ता।[२] इन अर्थों के अनुसार वही वस्तु जिनका स्पष्ट भौतिक व पदार्थात्मिक अस्तित्व है, जोकि विचारात्मक या आध्यात्मिक दृष्टि से नही वरन् ऐन्द्रिय सवेदनो से अनुभव की जा सकती है स्वाभाविक है। 'कालियर्स एन्साइक्लोपीडिया अमेरिका' के अनुसार प्रकृति के अनेक अर्थों मे से एक अर्थ मे प्रकृति (nature) शब्द ग्रीक भाषा के शब्द physis का अग्रेजी पर्याय है जिसका अर्थ है एक ऐसी प्रक्रिया या अस्तित्व जिसकी सक्रियता का स्रोत उसी मे निहित है। यह वस्तुओ का एक अनुत्पाद्य, स्वत चालित तथा पूर्णताप्राप्त स्वरूप है और इसी कारण जो कुछ बाह्य रूप से निर्मित या उत्पाद्य है यह उसके ठीक विपरीत है। प्रकृति का यह स्वरूप मनुष्य द्वारा निर्मित कलाओ के विपरीत है।[३]

हर्बर्ट डब्लू० श्निडर ने अपने लेख 'The Unnatural' मे प्रकृति के अस्तित्ववाची रूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—"इसके अनेक प्रचलित अर्थों मे से एक अर्थ है 'अस्तित्व की पूर्णता'। सभी वस्तुएँ जिनका अस्तित्व है, या

---

१ चार पर्याय इस प्रकार हैं—१ स्वकीय भाव, २ प्रकृति, ३ स्वरूप और ४ निसर्ग।

२ Oxford Dictionary के अनुसार ये अर्थ इस प्रकार हैं—

(1) Natural things or objects matter having their basis in the natural world or in usual course of nature
(2) Having a real or physical existence as opposed to what is spiritual, intellectual fictitous etc
(3) Existing or formed by nature, consisting of objects of this kind, not artificially made, formed or constructed p 35 38

३ Collier's Encyclopaedia, America, p 662.

या हो सकता है स्वाभाविक कहलाएँगी। अतिप्राकृतिक या अस्वाभाविक वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं होता। उनके अस्तित्व की कल्पना ही की जा सकती है। हमारा मस्तिष्क प्रकृति से परे कल्पनाएँ करने और अनस्तित्व को आश्रय देने के लिये स्वतन्त्र है। अतः वह अनेक अस्वाभाविक वस्तुओं—जिनका अस्तित्व नहीं है जैसे भूत प्रेत, मिश्रित जन्तु या पशु आदि की कल्पना प्रस्तुत कर देता है।"[1] जार्ज सान्टायना ने अपनी पुस्तक Life of reason में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उसने इस अस्तित्व को occurrence या happening कहा है।[2] प्रयोगात्मक प्रकृतवाद के संस्थापक जॉन डेवी ने इसे Process संज्ञा देकर कहा है कि कोई भी समय सापेक्ष घटना या अस्तित्व 'प्रकृति' है।[3]

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गीताकार द्वारा प्रयुक्त शब्द, 'भाव', 'शब्द कल्पद्रुम' द्वारा प्रयुक्त 'स्वरूप', सांख्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रकृति' Oxford Dictionary द्वारा प्रयुक्त existence, सान्टायना द्वारा प्रयुक्त Occurrence या happening जॉन डेवी द्वारा प्रयुक्त 'Pattern of Events' तथा दिवडर द्वारा प्रयुक्त Process शब्द स्वभाव (Nature) के विषय में जिस अनिवार्यता की ओर संकेत करते हैं वह है पदार्थत्व। अतः पदार्थत्व स्वभाव का प्रथम अनिवार्य अनुबन्ध है। वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही उसका स्वभाव है।

---

१. Naturalism and Human Spirit, Editor Y H Krikorin, P 122

२ Indeed nothing that actually happens can be uunatural and among tne thing occure are maniacal actions, illusions and dillusions of all sorts and even homicidal frenzy They are then not contrary to nature but only to the habits of the majority' Disease is as natural as life It is human Imagination which attributes sublimity and beauty or gruesomeness and horror to any natural event None of these qualities is felt by nature Nature is indifferent to all
—Men and Movement in Americun Philosophy by Joseph L. Blau में उद्धृत, P 325

३ Nature then is not exclusively the highly structnred and determinate body of static things in fixed rslations, which it was described as being in popular versions of machanistic Physics and among materialistic philosophers Nature is instead a pattern of evvents and inter-relations in whicu even the pattern itself is an event-modified by its ieter-action with other events and processes —वही, P 348

२. स्वभाव और वस्तु के मूल गुण

पदार्थात्मक अस्तित्व स्वभाव की सर्वप्रथम अनिवार्यता है। परन्तु व्यवहार-जगत् मे इस शब्द का उपयोग किसी भी अस्तित्व के मूल गुणो के लिये किया जाता है। इस अर्थ का मूल, स्वभाव के प्रथम अर्थ मे ही निहित है। जहाँ 'स्व' का 'भाव' होता है वहाँ 'स्व' 'पर' से अपनी भिन्नता सिद्ध करता है। अतः किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु की वे मूल विशेषताएँ हैं जो उस वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। हिन्दी शब्द-सागर, शब्द-कल्पद्रुम, उज्ज्वल नीलमणि, गीता, श्वेताश्वतर और माण्डूक्योपनिषद् आदि भारतीय ग्रन्थो तथा Collier's Encyclopaedia America Oxford Dictionary और प्रकृतवादी अमेरिकन दार्शनिकों की पुस्तकों मे स्वभाव शब्द के इस अर्थ को स्पष्ट करनेवाले विचार तथा उनका विवेचन उपलब्ध होता है। इन सभी विचारो के मथन के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु मे सदा रहनेवाले गुण हैं।
२. ये गुण उस वस्तु से अलग नही किये जा सकते; ये उसमें अन्तर्निहित होते हैं।
३. ये गुण वस्तु मे उत्पन्न नहीं किये जा सकते; ये अजन्य होते हैं और वस्तु में स्वत सिद्ध रूप से विद्यमान रहते हैं।
४. इन गुणो का का विपर्यय नहीं हो सकता।
५ सृष्टि का मूल कारण वस्तु का गतिशील केन्द्र (Dynamic center) होता है जो वस्तु के रूप मे परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन ही सृष्टि है।
६. अध्यात्मवादी वस्तु के स्वभाव को सृष्टि का कारण नही मानते। ब्रह्म की चेतना से ही एक वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु के स्वभाव का उपभोग करके सृष्टि का विकास करता है।
७ भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु का गतिशील केन्द्र वस्तु की निरपेक्षता को भग करके अन्य वस्तु के स्वभाव के सन्दर्भ मे उस वस्तु के गुणो का उद्घाटन करता है। यही सृष्टि है।
८ किसी भी वस्तु के स्वभाव को वैज्ञानिक विधियो से ज्ञात किया जा सकता है। वैज्ञानिक विधि एक self correcting process है।

जब हम वस्तु के गुणो के रूप म स्वभाव का अर्थ करते हैं तो निश्चित ही आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण नहीं, भौतिक दृष्टि से ऐसा करते हैं। अतः ब्रह्म के सयोग से सृष्टि के विकास का सिद्धान्त छोडकर हम Chemical affinity या Dynamic center के सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। अत किसी भी वस्तु

का स्वभाव उस वस्तु के वे गुण हैं जो उसके अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वस्तु-गुणवाची यह द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ का पूरक है। किसी वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ उस वस्तु के उन गुणो को स्वीकार करना है जो उसे अन्य वस्तुओ से अलग अस्तित्व प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष-रूप म हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु की वे अन्तर्निहित तथा अभिन्न विशेषताएँ हैं जो स्वत सिद्ध तथा अपरिवर्तनीय हैं और जिन्हें वैज्ञानिक विधियो स जाना जा सकता है।

३ चेतन प्राणी और स्वभाव

पदार्थ के मूल गुणो से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन मे हमारी दृष्टि जड पदार्थ पर ही केन्द्रित रही है। परन्तु सृष्टि मे जड पदार्थों के अस्तित्व के साथ-साथ चेतना से युक्त जीवधारी भी दिखाई पडते हैं। वैसे इन जड पदार्थों मे भी एक चेतना की कल्पना कर कॉलियर्स एनसाइक्लोपीडिया, अमेरिका' ने 'चेतना का गतिशील स्रोत' शब्द-समूह का प्रयोग किया है। परन्तु इसका प्रयोग Chemical affinity के अर्थ मे किया गया है। पदार्थ की चेतना एकदम यान्त्रिक होती है उसम विकल्प अपनाने की शक्ति नही होती, परन्तु जीवधारियो की चेतना पदार्थ की चेतना से इस अर्थ मे भिन्न होती है कि एक तो जीवधारी initiative लेने मे समर्थ होता है और दूसरे उसमे विकल्प अपनाने की शक्ति होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राणियो म चेतना का यह वैशिष्ट्य पदार्थात्मक वैशिष्ट्य क अतिरिक्त होता है। नित्य दृष्टिगोचर होनेवाले गाय, घोडा, बैल आदि पदार्थ भी हैं और जीवधारी भी। हड्डी, मास, अन्तडी, शिरा और पेशिया का अपना पदार्थात्मक मूल्य है। इस रूप म प्रत्येक चेतनशील प्राणी अपने पदार्थात्मक मूल्य स युक्त होता है। इसमे सन्देह नही कि प्राणी की चेतना उसके पदार्थ की मात्रा और प्रकार से बहुत-कुछ नियन्त्रित होती है और उसके स्वभाव को नियन्त्रित तथा सयमित करती है। उदाहरणत एक जीवाशधारी ऐमीबा और हाथी के स्वभाव का अन्तर केवल मानसिक स्थिति या initiative लेने की शक्ति का ही अन्तर नही, वरन् उस पदार्थ के भार और आकार का भी अन्तर है। उसका पदार्थ भी उसके स्वभाव का नियमन करता है। मोर अपने हलकेपन के कारण पखो की सहायता से आकाश मे उड सकता है, परन्तु हाथी के लिये यह सम्भव नही है। शारीरिक सगठन और परिस्थितियाँ उसके स्वभाव पर प्रभाव डालती है। किसी भी जीव मे जिस स्वभाव का विकास होता है, वह परिस्थितियो के साथ किया गया एक सामजस्य होता है। अपने जीवन को बनाये रखने के लिये चेतनशील प्राणियो को जिस सघर्ष का सामना

करना पड़ता है उसके लिये शारीरिक ही नही मानसिक सम्यता भी आवश्यक हुआ करती है। किसी भी प्राणी का परिवेश परिवर्तन के जितने द्रुत झटकों से युक्त होगा, सम्मुख आनेवाली परिस्थितियाँ जितनी अधिक विषम होंगी, उसके स्वभाव मे उतनी ही अधिक नम्यता होगी। परन्तु अचेतन पदार्थ के स्वभाव मे किसी भी प्रकार की नम्यता नहीं आती। उनके स्वभाव मे आनेवाले परिवर्तन ब्रह्माण्ड मे होनेवाले अत्यन्त मन्दगति के परिवर्तन होते हैं जो structure को परिवर्तित करते रहते हैं। परन्तु ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि लाखो वर्ष बाद व्यक्त होते हैं। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जड और चेतन के स्वभाव का अन्तर पदार्थ का अन्तर तो है ही परन्तु चेतन का अन्तर उनको एकदम दो भागो मे विभक्त कर देता है। विभिन्न चेतन प्राणियों के स्वभाव का अन्तर उनकी चेतना का समानुपाती तो होता ही है, परन्तु पदार्थ की मात्रा, शारीरिक संगठन और परिस्थितियो के द्वारा भी उसका नियन्त्रण होता है।

जड और चेतन के स्वभाव मे अन्तर होने का एक मूल कारण यह भी है कि पदार्थ का द्वितीय रूप प्रथम रूप की अपेक्षा एक विशिष्ट गुण—'गति' से युक्त होता है। मूल रूप मे दोनो ही वस्तुएँ पदार्थ तो हैं ही। तो फिर चेतना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दो रूपो मे प्रस्तुत किया गया है। अध्यात्मवादी दर्शन चेतना को ईश्वरीय मानता है और उसे आत्मा, रूह, जीव या soul के नाम से अभिहित करता है; परन्तु भौतिकवादी दर्शन चेतना को पदार्थ का ही गुण मानता है। उसके अनुसार वस्तु के परमाणु मे निहित छोटे-छोटे कणो का पारस्परिक संघर्ष ही चेतना का मूल कारण है। दोनो ही पक्ष विभिन्न जीवो के स्वभाव के अन्तर को व्याख्या अपनी-अपनी विचारधारा के अनुकूल करते हैं। भौतिकवादी सम्पूर्ण विश्व की निर्मिति मे पदार्थ के स्वभाव को ही मूल कारण मानता है।

परन्तु अध्यात्मवादी इसका खुलकर विरोध करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद के प्रथम अध्याय मे सृष्टि का कारण ढूँढते समय उपनिषत्कार ने भौतिकवादियो के इस मत का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है[1] और यह स्थापना की गई है कि ईश्वर ही मूलत चेतना का स्रोत है। आत्मा उसी का एक अंश है। 'गीता' और 'उज्ज्वल नीलमणि' म भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं।

अपने व्यक्त रूप म स्वभाव का अर्थ 'मन की प्रवृत्ति', 'आदत या बान होता है।[2] 'मन की प्रवृत्ति' मन नामक इन्द्रिय का गुण है, जो सभी प्राणियो मे

---

१ काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषा न त्वात्मभावादात्माप्यनीश सुखदुःखहेतो ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय १, श्लोक

२. हिन्दी शब्द-सागर, भाग ४, पृ० ३०४४।

प्राप्त होती है। सभी मे इसका रूप भिन्न-भिन्न होता है। यह ईश्वरप्रदत्त होती है। परन्तु 'आदत या बान' हमारे बाह्य अभ्यास और सस्कारो का परिणाम होती है। इसम सन्देह नही कि उसके मूल तन्तु भी ईश्वरप्रदत्त स्वभाव मे ही निहित होते हैं, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति निरन्तर सुदृढ अभ्यास और सस्कार से ही सम्भव हो पाती है।[१] जहाँ तक स्वभाव-परिवर्तन का प्रश्न है, सभी जीव-धारियो मे परिस्थितियो के अनुरूप स्वभाव मे थोडा-बहुत परिवर्तन पाया जाता हैं। उदाहरणार्थ जो जगली कुत्ता वन मे हिंसक होता है वही जजीर मे बँधकर अपनी हिंसकता का त्याग कर देता है। हाथी नगर मे आकर सरकस के माध्यम से मनोरजन का कारण होता है। अजायबघर के सीखचो मे वर्षों से बन्द सिंह की हिंसक प्रवृत्तियो मे कुछ-न कुछ परिवर्तन आ ही जाता है। यह अन्तर परिस्थितियो मे अन्तर उत्पन्न होने स कारण होता है।

वास्तविकता यह है कि सरकस का शेर और सपेरे की पिटारी का साँप दोनों ही अपने स्वाभाविक परिवेश मे नही हैं। दोनों ही परिस्थितियाँ उनके लिये क्रमश अस्वाभाविक हैं। इन पशुओ की प्रवृत्तियो मे आनेवाला अन्तर जीवन-सातत्य की मूल भावना के गर्भ से उद्भूत होता है। यही भावना उसे इस परिवर्तन के लिए बाध्य करती है। अस्वाभाविक परिवेश मे वह अपने मूल स्वभाव से भिन्न रूप मे व्यवहार करने लगता है। परन्तु किसी भी विशिष्ट प्रकार के परिवेश का सातत्य पशु की आदतो में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। घोडे का ताँगे मे जुता होना या उसके ऊपर किसी का सवार होना घोडे के स्वतत्र अस्तित्व के सन्दर्भ मे अस्वाभाविक परिस्थितियाँ हैं। परन्तु मनुष्य-समाज सहस्रो वर्षों से घोडे को इस रूप मे प्रयुक्त करता आ रहा है, अत घोडे के लिये वह एक स्वाभाविक परिस्थिति बन गई है। उसकी चेतना भी कुछ इतनी अधिक शिक्षित हो गई है कि उसने वश-परम्परा के रूप म इस परिस्थिति के साथ समझौता कर लिया है। ये परिस्थितियाँ आज उसके लिए स्वाभाविक हो गई हैं। तात्पर्य यह कि बाह्य परिवेश भी किसी प्राणी के स्वभाव पर एक निश्चित सीमा तक अन्तर डाल सकता है। उसमे कुछ सीमा तक परिवर्तन सम्भव है।

४ मानव-स्वभाव

रैडफील्ड महोदय के लेखो के सकलन 'Human Nature and Study of Society' Vol I मे सकलित 'The Universally Human and Culturally

---

१. 'निसर्ग सुदृढाभ्यासश्च य सस्कारविशेष उच्यते।'

—उज्ज्वल-नीलमणि

Variable' लेख में 'मानव-स्वभाव' पर अच्छा विवेचन प्राप्त होता है। 'मानव-स्वभाव' शब्द पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है कि यह शब्द मानव की उन विशेषताओं के सन्दर्भ मे प्रयुक्त होता है जिसे हम प्रत्येक मनुष्य मे देख सकते हैं भले ही वह किसी भी सस्कृति या समाज से सम्बन्धित हो। परन्तु आधुनिक मानव-शास्त्र और मनोविज्ञान मे इस शब्द को तीन अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है। ला पियरे (La Piere), फ्रेंसवर्थ (Fransworth), जैकब (Jacod) और स्टर्न (Stern) आदि विद्वान् मनुष्य के उस व्यवहार को जो एक विशिष्ट सस्कृति या समाज मे पाया जाता है 'मानव-स्वभाव' के नाम से अभिहित करते हैं। यह अर्थ इस बात का द्योतक है कि मानव-स्वभाव सास्कृतिक परिवेश की देन है। परन्तु क्रॉबर (Krobber), हॉवेल्स (Howells) और डेवी (Dewey) आदि विद्वान् 'मानव-स्वभाव' शब्द का प्रयोग, मनुष्य की सार्वभौमिक विशेषताओं और सास्कृतिक विशेषताओं दोनो के ही अर्थ मे करना चाहते हैं। इन लोगो के मत मे 'मानव स्वभाव' हमारी नस्ल की उन औसत विशेषताओं का नाम है जो प्रत्येक मनुष्य मे होती हैं चाहे उनका समाज और सस्कृति कोई भी हो। विद्वानो का यह वर्ग सास्कृतिक विशेषताओं की अपेक्षा नही करता परन्तु उनको वर्गत परिवर्तनशील (variable) मानता है जबकि जन्मजात विशेषताओं को अपरिवर्तनीय (Invarible) कहता है। इस शब्द का तीसरा अर्थ पार्क (Park) फेरिस (Pairs) और क्लकोन (Kluckhohn) आदि विद्वान् उन मानवीय विशेषताओं के अर्थ मे लेते हैं जिन्हें मानव, मानव होने के नाते विकसित करता है और जो सभी देशो और सस्कृतियो मे एक हैं। तात्पर्य यह है कि यह वर्ग विश्व की सभी सस्कृतियों मे प्राप्त उन विकसित विशेषताओं को मानव-स्वभाव कहता है जिन्हे दूसरे शब्दो म 'मानवता' कहा जा सकता है। ये विशेषताएँ अर्जित विशेषताएँ हैं, जन्मजात नही। रैडफील्ड इस तृतीय अर्थ को ही मान्यता देता है।

स्पष्ट है कि रैडफील्ड महोदय का मत मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र के सन्दर्भ मे पुष्ट हुआ है, परन्तु हमारा उद्देश्य मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे एकपक्षीय विचार न करके सर्वांग रूप से विचार करना है क्योंकि काव्य मे मानव-स्वभाव के प्रत्येक पक्ष का स्थान मिलता है। हमारे मतानुसार समाज-शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत दूसरा मत अधिक उचित है क्योंकि वे सास्कृतिक और जन्मजात दोनो ही विशेषताओं से स्वभाव का निर्माण मानते हैं। परन्तु स्वभाव की वैयक्तिक भिन्नता को भी उपेक्षित नही किया जा सकता। रैडफील्ड महोदय ने भी अपने वर्गीकरण मे इस सत्य को स्वीकार किया है। अत मानव-स्वभाव के अन्तर्गत हमे मानव की व्यक्तिगत, सास्कृतिक और नस्लगत विशेषताओं को समाहित करना होगा। इनमे से प्रत्येक विशेषता पर हम दो दृष्टियो से विचार करेंगे—(१) वे व्यक्तिगत, सास्कृतिक और नस्लगत विशेषताएँ जो अव्यक्त

रूप से व्याप्त हैं और (२) वे व्यक्तिगत, सांस्कृतिक और नस्लगत विशेषताएँ जो विकसित की गई हैं।

हमारा नित्य-निरीक्षण इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति-व्यक्ति में कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं कि जो हमें प्रत्येक को अलग अलग रूप में पहुँचाने में सहायता करती हैं। हम राम और मोहन में से राम और मोहन को अलग-अलग इन्ही अव्यक्त (निहित) विशेषताओ के कारण ही पहचान पाते हैं। व्यक्ति को यह स्वभाव अर्जित नही करना पड़ता। परन्तु व्यक्ति की कुछ विशेषताएँ ऐसी भी होती हैं, जो होती तो पूर्णत व्यक्तिगत हैं परन्तु वह उन्हे अपने शारीरिक सगठन या अन्य बाह्य कारणों द्वारा विकसित कर लेता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसको Temperament कह सकते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति-विशेष में Temperament के विकास का कारण शारीरिक होता है। 'शरीर' के अन्दर सदा एक विशेष रासायनिक परिवर्तन होते रहने के कारण मनुष्य में एक विशेष प्रकार से अनुभव करने, एक विशेष प्रकार से इच्छा करने और चिन्तन करने की स्थायी प्रवृत्ति हो जाती है। इस स्थायी प्रवृत्ति को स्वभाव (Temperament) कहते हैं। उमग (Mood) एक अस्थायी मानसिक अवस्था है जो शारीरिक अवस्था के कारण होती है, परन्तु स्वभाव एक स्थायी मानसिक अवस्था है जो शरीर के रासायनिक परिवर्तन के कारण निर्मित होती है। यह व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवन-शैली का निर्माण करता है। यह मनुष्य के सवेग, विचार तथा व्यवसाय को एक खास दिशा की ओर मोड देता है। · · ··· ··इसमे (स्वभाव में) तीनों मानसिक पहलुओ (सवेग, विचार तथा इच्छा) का समावेश रहता है। स्वभाव पर प्रणालीहीन ग्रन्थियो (ductless glands) का अमिट प्रभाव पडता है क्योंकि वे ग्रन्थियाँ आभ्यन्तर स्वास्थ्य-रस को उत्पन्न करती हैं जो रक्त के साथ मिलकर नाड़ी मण्डल और मस्तिष्क पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid glands) व्यक्तियों में विभिन्न स्वभाव का निर्माण करती है।[१] एकान्तप्रियता, चिडचिडापन, हास्यप्रियता आदि वैयक्तिक विशेषताओ को हम अर्जित विशेषताओ के अन्तर्गत रख सकते हैं।

मानव स्वभाव का दूसरा पक्ष है सांस्कृतिक या समूहगत। स्वभाव के इस पक्ष की विशेषताओ को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है— निहित और अर्जित। अंग्रेजी बोलना अंग्रेज की एक निहित समूहगत विशेषता है क्योंकि विशिष्ट सामूहिक परिवेश में अंग्रेजी बोलना अव्यक्त रूप से ही आ जाता है। एक विशिष्ट संस्कृति में जन्म लेने के कारण व्यक्ति अनजाने में ही इन समूहगत विशेषताओं को स्वभावस्थ कर लेता है। ये विशेषताएँ शारीरिक,

१ मनोविज्ञान, ले० जगदानन्द पाण्डेय, पृ० ३६५

भौगोलिक और सास्कृतिक तीनो ही प्रकार की हो सकती हैं। 'तिरछी आँखें' नकपिच्चा, पीले रग का चीना बच्चा' एक विशिष्ट सस्कृति की निहित विशेषताएँ हैं जो स्वभाव के अन्तर्गत आती हैं। मगोल के सिर की बनावट, अमेरिकन की लम्बाई और गोरापन और अफ्रीकन का कालापन—ये सभी समूहगत स्वभाव के ऐसे उदाहरण हैं जो व्यक्ति को जन्म के साथ ही प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण सास्कृतिक विशेताएँ, कला, धर्म, विज्ञान और राजनीति आदि सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु सस्कृतियो का भी विकास होता है। कबड्डी भारतीय जवानो को स्वभाव से ही प्रिय है और अग्रेज को क्रिकेट। दोनो ही अर्जित सास्कृतिक स्वभाव हैं। परन्तु भारत मे क्रिकेट की लोकप्रियता और इग्लैण्ड मे कबड्डी की, एक सास्कृतिक विकास है। पैण्ट पहनने का स्वभाव भारत के लिये एक अर्जित सास्कृतिक स्वभाव है और महिलाओ का साडी पहनना रूस तथा इग्लैण्ड के लिये। एक सस्कृति के स्वभाव से युक्त जब कोई व्यक्ति किसी अन्य सस्कृति के सम्पर्क मे आता है तो वह कुछ-न-कुछ अर्जन करता है। यह अर्जन जब व्यक्तिश व्यापक होता है तो यह अर्जित वैशिष्ट्य सस्कृति के लिये अर्जित बन जाता है। सस्कृतियो के विकास का इतिहास इसी प्रकार निर्मित हुआ है। यहाँ एक बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—क्या एक निष्क्रिय व्यक्ति प्रयत्न के अभाव मे भी अपनी मूल सास्कृतिक विशेषताओ से उत्पन्न स्वभाववाला नही होता? होता है। परन्तु वही व्यक्ति जब प्रयत्न द्वारा अपनी प्रकृति को सस्कृति मे ढालता है तो इस प्रकार अर्जित स्वभाव सास्कृतिक रूप से अर्जित होगा या निहित? इसका निश्चित उत्तर यही है कि यह स्वभाव व्यक्ति की दृष्टि से तो अर्जित सास्कृतिक स्वभाव है जबकि सस्कृति की दृष्टि से निहित।

मानव-स्वभाव का तीसरा पक्ष है मानव का सार्वभौमिक स्वभाव। मनुष्य का यह स्वभाव व्यक्ति, सस्कृति, देश और काल की सीमाओ से निरपेक्ष है। यह प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है। इसी को विद्वानो ने Universal human या सार-रूप मनुष्य कहा है। वास्तव मे यही मनुष्य का सार-रूप स्वभाव है जो व्यक्ति, सस्कृति या समूह से निरपेक्ष होने के कारण व्यापक रूप से स्वीकार्य मानव-स्वभाव है। भाववादी दार्शनिक तो इसे स्वीकार करते ही हैं परन्तु जॉन डेवी जैसे प्रगति-पद्धति के आचार्य भी इसे मान्यता देते हैं। मानव की मूल-प्रवृत्तियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। सर्वमानव-व्याप्त स्वभाव की खोज मे कुछ मूल प्रवृत्तियो का चिन्तन करते-करते मनोवैज्ञानिकों ने किसी एक प्रवृत्ति को ही मानव की क्रियाओ का केन्द्र सिद्ध करने का प्रयास किया है—फ्रायड ने सैक्स, ऐडलर ने ईगो तथा युग ने जीवनेच्छा को केन्द्र सिद्ध किया। इस बात पर भी विचार किया गया कि मानव अपने मूल स्वभाव मे प्रेम-प्रधान है या घृणा-

प्रधान। श्री एम० एफ० ऐश्ले मॉण्टेग्यू द्वारा लिखित Anthropology and Human Nature के द्वितीय अध्याय Man and Human Nature में इस विषय का प्रतिपादन बड़े ही व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। तात्पर्य यह कि मनुष्य भले ही मूल रूप में अच्छा हो या बुरा, भले ही उसकी क्रियाओं का केन्द्र सेक्स हो, या ईगो, या जीवनेच्छा, यह सभी को स्वीकार्य है कि मानव का एक सार्वभौमिक सार-स्वभाव होता है।

परन्तु सर्वाधिक मतभेद का विषय यह है कि क्या यह मूल स्वभाव या Instincts भी परिवर्तनशील होती हैं ? कार्ल मार्क्स तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सभी समर्थक इस परिवर्तन को स्पष्ट रूप से बल देकर स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि वे मनुष्य की विशेषताओं का सार्वभौमिक रूप मानने के लिये तो तैयार हैं परन्तु सार्वकालिक नहीं। इस विषय में श्री रामविलास शर्मा ने लिखा है—"यही नहीं कि साहित्य की विषय-वस्तु नौ रसों के साँचे में ढलने से इन्कार करती है वरन् भाववादी विचारधारा के प्रतिकूल मनुष्य के विचार और भावनाएँ भी परिवर्तनशील हैं। जिन्हें हम मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ—इन्स्टिंक्ट्स कहते हैं वे भी विकासमान हैं, उनका भी इतिहास है। अन्तर इतना ही है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियों में इतना धीरे परिवर्तन होता है कि हम उन्हें अपरिवर्तनशील कहते हैं जबकि दूसरी वृत्तियाँ और दूसरी भावनाएँ जल्दी ही बदलती हैं। मिसाल के लिये मनुष्य में व्यक्ति या समूह की भावना का विकास या ह्रास व्यक्तिगत सम्पत्ति के जन्म, विकास और ह्रास के साथ जुड़ा हुआ है। वर्ग-युक्त समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ की जिन वृत्तियों को मनोविज्ञान के पण्डित शाश्वत मानते हैं, वर्गहीन समाज में उन्हीं का अभाव दिखाई देता है।"[1]

निस्सन्देह इस बात का निबटारा कि मानव की मूल वृत्तियों में परिवर्तन होता है या नहीं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसका सीधा सम्बन्ध दर्शन के मूल प्रश्न Universal ideas और वैयक्तिक सत्ता से है। हमारा अपना विचार है कि मनुष्य के स्वभाव में दिखाई पड़नेवाला परिवर्तन मनुष्य-स्वभाव का सांस्कृतिक पक्ष है, सार्वकालिक या सार्वभौमिक नहीं। सार्वकालिक और सार्वभौमिक स्वरूप तो मनुष्य की अपरिवर्तनीय विशेषताओं का ही संकलन है।

इस सम्बन्ध में भारतीय वाङ्मय में प्राप्त विचार हमारी बात की पुष्टि करते हैं। भारतीय ग्रन्थों में स्वभाव की व्याख्या बहुजन्मवाद के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में की गई है। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' के प्रकृति खण्ड में स्वभाव के बारे में कहा गया है—"वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आचार और व्यवहार से ही मनुष्य का हृदय जाना जा सकता है। जीव, जो लोक के कर्म के वशीभूत होकर

---

१ लोकजीवन और साहित्य, रामविलास शर्मा, पृ० १२

पूर्वजन्म मे जो कुछ करता है, जन्म-जन्मान्तर तक अपने कर्मों का फल भोगता रहता है। कुछ का कहना है कि यह कर्म स्वत करने पर ही होता है, कुछ इसे दैवकृत मानते हैं और कुछ स्वभाव द्वारा किया गया। इस प्रकार वेद-वेदागो मे पारङ्गत लोग तीन प्रकार के मत रखते हैं। पुरुष स्वय कर्म का पैदा करनेवाला है। वही कर्म भाग्य का कारण होता है और मनुष्य का स्वभाव पूर्व-कर्मों द्वारा ही उत्पन्न होता है। सभी फलो द्वारा सेवित और सभी फलो का देनेवाला कर्म ही आत्मा है। यही कर्म भाग्य और स्वभाव की सृष्टि करता है।"[1] यह कथन सीधे-सीधे मनुष्य-स्वभाव को ध्यान मे रखकर किया गया है। यहाँ मनुष्य के स्वभाव को अर्जित और कर्म से उत्पन्न विशेषताओ का समानार्थक माना गया है। पूर्व-जन्म के कर्मों का सस्कार इस जन्म के स्वभाव का निर्माण करता है और इस जन्म के कर्म आगामी जन्म के स्वभाव का निर्माण करते हैं। यह शृखला इसी प्रकार आगे चलती रहती है। तात्पर्य यह कि मानव-स्वभाव पर पूर्व-जन्म के सस्कारो का गहरा असर भारतीय विद्वान् स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण'-कार ने श्रीकृष्ण खण्ड मे इस जीवन मे भी तपस्या द्वारा स्वभाव का अर्जन स्वीकार किया है। उसका कथन है—"सुदिन और दुर्दिन सभी कर्म से उत्पन्न होते हैं। यह कर्म तप से साध्य होता है और स्वभाव अभ्यास से साध्य होता है।"[2] गत पृष्ठो मे स्पष्ट किया गया है कि पाश्चात्य विद्वान् भी इस जन्म मे अर्जित स्वभाव को स्वीकार करते हैं परन्तु वे पूर्व-जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। इसी कारण Universal Man पर विचार करते हुए भी उन्होंने कभी इस दृष्टि से विचार करने का प्रयास नही किया।

'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' कर्म से स्वभाव की उत्पत्ति मानता है परन्तु गीताकार

---

१ वचनेषु च, बुद्धौ च, स्वभावे च चरित्रत ।
आचारे व्यवहारे च, ज्ञाने हृदय नृणाम् ॥
लोका कर्मवशीभूतस्तत्कर्म यत्कृत पुरा।
स्व कर्मणा फल भुक्ते जन्तुर्जन्मनि जन्मनि ॥
केचिद्वदन्तीति भवेत् स्वकृतेन च कर्मणा।
केचिद्वदन्ति दैवेन स्वभावेनेति केचन ॥
त्रिविधाश्च मता वेदे वेद वेदाङ्ग पारगा ।
स्वयञ्च कर्म जनकस्तत् कर्मदेव कारणम् ॥
स एव आत्मा सर्व सेव्यः सर्वेषाञ्च फलप्रदः ।
स च सृजति दैवञ्च स्वभाव कर्म एव च ॥

—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, प्रकृति खण्ड, ५७।२१-२८।३१।४१

२. सुदिन दुर्दिन चैव सर्व कर्मोद्भवे भवेत् । तत्कर्म तपसा साध्य कर्मणा च शुभाशुभ । तप स्वभाव साध्य च स्वभावोऽभ्यासतो भवेत् ।

—वही, श्रीकृष्ण-खण्ड ४३।५१।५२

एकदम स्पष्ट रूप में स्वभाव से कर्म की उत्पत्ति स्वीकार करता है। उसके अनुसार मानसिक वृत्ति या स्वभाव के आधार पर ही वर्ण का निर्धारण होता है। व्यक्ति स्वभाव से बँधा होकर कर्म करने को बाध्य होता है। कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥१८ ४१॥

"हे परन्तप! ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण भी कर्म-स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के संस्कार-रूप स्वभाव से उत्पन्न गुणो के अनुसार विभक्त किये गये हैं।"

श्रेयान्स्वधर्मोविगुण परधर्मात्स्वानुष्ठितात्।
स्वभाव नियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८ ४७॥

"अच्छी तरह आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म-रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नही होता।"

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१८ ६०॥

'हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नही करना चाहता उसको भी तू अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश करेगा।"

उपर्युक्त सभी उद्धरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि गीताकार स्वभाव के अनुसार कर्म की कृति का सिद्धान्त मानता है। परन्तु गीताकार का मन्तव्य 'माण्डूक्योपनिषद्' का विरोधी न होकर उसका समर्थक ही है। वह जिस स्वभाव को स्वीकार करता है वह स्वभाव भी पूर्वजन्मो का संस्कार है। उन्ही के फल-रूप मे इस जन्म का स्वभाव निश्चित होता है और मनुष्य उनके अनुसार कर्म करने को बाध्य होता है। उपर्युक्त दोनो ही ग्रन्थ पूर्व-जन्म की पूर्व स्वीकृति देकर ही इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं। यह सिद्धान्त मनुष्य-स्वभाव को अर्जित मानता है, परन्तु इस अर्जन मे पूर्वजन्म को उत्तरदायी ठहराया गया है। इस प्रतिपादन से कही भी Universal Human की कल्पना को योग नही मिलता। आज का वैज्ञानिक युग इस पूर्वजन्म के सिद्धान्त को ही स्वीकार नही करता। तो क्या दोनो बातो का कही समन्वय सम्भव है? पूवजन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाय या न किया जाय, परन्तु इतना तो सरलता से माना जा सकता है कि भारतीय विद्वानो और चिन्तकों ने कम-से-कम इस बात का तो स्पष्ट अनुभव किया ही था कि मनुष्य-स्वभाव मे अनेक ऐसी बातें होती हैं, जिनको वह इस जन्म मे अर्जित नही करता। इस बात को पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं। तो फिर मानव-स्वभाव के इस पक्ष की व्याख्या किस प्रकार हो

सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें जुग के 'आद्य-बिम्ब' के विवेचन में प्राप्त होता है। उसके अनुसार ये विशेषताएँ पूर्वजन्म की न होकर आनुवशिक होती हैं। निश्चित ही सम्पूर्ण मानव-समाज में कुछ ऐसी आनुवशिक विशेषताएँ मनोविज्ञान के आधार पर ढूँढी जा सकती हैं, जो सभी मनुष्यों में सर्वमान्य होने के कारण सभी मनुष्यों को एकमानव-वशीय सिद्ध करती हैं। मनोविज्ञान के आधार पर यही Universal human being है।

दिवास्वप्न, निद्रास्वप्न तथा काव्य-बिम्बों का विवेचन करते हुए मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्य जुग ने आद्य-बिम्बों के बारे में लिखा है—"सामूहिक अचेतन, चेतना का एक अग है। वैयक्तिक अचेतन से इसका अभावात्मक भेद यह है कि उसकी तरह इसका निर्माण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर नही होता और इसीलिये यह व्यक्तिगत सम्पत्ति भी नही होता। व्यक्तिगत अचेतन का निर्माण जहाँ अनिवार्यत ऐसी सामग्री से होता है, जो किसी समय चेतन अनुभव का विषय थी, किन्तु अब विस्मृत या दमित होकर चेतन मन से विलुप्त हो गई है, वहाँ सामूहिक अचेतन की सामग्री चेतन मन का विषय और व्यक्तिगत सम्पत्ति कभी नहीं बनती वरन् पूर्णत आनुवशिकता पर ही निर्भर करती है। व्यक्तिगत अचेतन में अधिकतर ग्रन्थियाँ ही रहती हैं जबकि सामूहिक अचेतन का निर्माण केवल आद्य-बिम्बों से होता है।

'आद्य-बिम्ब की धारणा से, जो सामूहिक अचेतन की धारणा के साथ अनिवार्यत सम्बद्ध है, मानव-चेतना में ऐसे अनेक बिम्ब या रूप के अस्तित्व का सकेत मिलता है, जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं। पुराण-विद्या-सम्बन्धी अनुसन्धान में इनको प्रयोजन के नाम से अभिहित किया जाता है, आदिमानव विषयक मनोविज्ञान में ये लेवी ब्रूल द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक प्रतिच्छवियों' की धारणा के समवर्ती हैं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ह्यूबर्ट और मौस ने इन्हें कल्पना की कोटियाँ कहा है। आज से बहुत पहले अोडाल्फ बास्टिआन ने इन्हें प्राथमिक अथवा 'आदिम विचार' का नाम दिया है।

"अत मेरी स्थापना यह है: हमारी प्रत्यक्ष चेतना के अतिरिक्त जो पूर्णत वैयक्तिक है और जिसे हम एकमात्र आनुभाविक चेतना मानते हैं, चेतना का एक दूसरा स्तर भी है जो सामूहिक, सार्वजनिक तथा अवैयक्तिक होता है और जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सामूहिक अचेतन व्यक्तिगत रूप में विकसित न होकर आनुवशिक रूप में प्राप्त होता है। यद्यपि ये बिम्ब गौण या अप्रत्यक्ष रूप से ही चेतन अनुभव का विषय बनते हैं, फिर भी इनसे अन्तश्चेतना में विद्यमान सामग्री (अनुभव-सस्कारों) को

निश्चित रूपाकर धारण करने में सहायता मिलती है।"[1]

मनोविज्ञान के आधार पर प्रस्तुत यह विवेचन मानव-स्वभाव के Universal स्वरूप की समस्या पर बहुत-कुछ समाधानकारक प्रकाश डालता है। परन्तु मानव या वस्तुओं के Universal स्वरूप के विषय में प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिकों में ही मतभेद नहीं रहा वरन् भारत में भी मीमांसा-दर्शन के प्रसंग में इस प्रश्न पर गहरे तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। Universality का यह प्रश्न केवल मानव तक ही सीमित न रहकर दर्शन के क्षेत्र में समस्त वस्तुओं से सम्बन्धित है। परन्तु जुंग का विवेचन हमारा समाधान कर पाता है अतः हम उसी को सत्य मानकर चलेंगे।

अन्त में मानव स्वभाव की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—"मनुष्य का स्वभाव उसकी निहित नस्लगत और निहित तथा अर्जित वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का समुच्चय है।" स्वभाव के इन विभिन्न पक्षों को हम निम्नांकित तालिका द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं। इस तालिका में मनुष्य के सार्वभौमिक अर्जित-स्वभाव के कक्ष को रिक्त छोड़ने के स्थान पर उसमें instincts के परिवर्तन की सम्भावना को व्यक्त कर दिया है।

मनुष्य स्वभाव

	निहित Inherent	अर्जित Developed
व्यक्तिगत स्वभाव Idiosyncratic	व्यक्तिगत शारीरिक स्वभाव	एकान्तप्रियता, चिड़चिड़ापन, हास्यप्रियता आदि Temperament
संस्कृतिजन्य स्वभाव Cultural	संस्कृति	सांस्कृतिक विकास की दिशाएँ
सर्वव्याप्त मानव-स्वभाव Universal or *Pan human*	आदिम वृत्तियाँ Instincts	आदिम वृत्तियों का विकास (यदि होता हो तो) Development of Instincts if any

स्वभाव के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम साहित्य में स्वभावोक्ति-क्षेत्र में इसका वर्णन करेंगे।

१. दि आर्किटाइप्स एण्ड दि कलेक्टिव अनकान्शस, अनुवादक हल, पृ० ४२-४३

स्वभावोक्ति का शास्त्रीय विवेचन और स्वभाव

जैसा कि द्वितीय अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, दण्डी ने स्वभावोक्ति के चार भेद किये हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। आगे के आचार्यों ने जो भेद किये वे इन्हीं में से दो या तीन रहे। स्वभाव के उपर्युक्त चार अर्थों के सन्दर्भ में विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी काव्य में जहाँ कहीं भी, १. किसी पदार्थ के गुणों का वर्णन हो, २ किसी प्राणी की चेष्टाओं का वर्णन हो, ३ मानव-स्वभाव का वर्णन हो, ४ मानव के सांस्कृतिक विकास से उत्पन्न क्रिया-कलापों का वर्णन हो, वह सारा-का-सारा स्वभावोक्ति का विषय होगा। दण्डी ने जो भेद उपस्थित किये हैं उनमें से द्रव्य और गुण में भेद कर पाना कठिन है। किसी भी द्रव्य के स्वभाव का वर्णन उसके गुणों की अभिव्यक्ति के बिना नहीं किया जा सकता। वास्तव में गुण और द्रव्य स्वभावोक्ति की विषय-सामग्री के लिए पर्याय ही हैं। गुण के उदाहरण-रूप में दण्डी ने 'कलक्वणितगर्भेषु...' आदि को स्पर्शगुण के रूप में प्रस्तुत किया है और द्रव्य के उदाहरण-रूप में 'कण्ठे काल...' इत्यादि में शिव-रूप व्यक्ति के गुणों का कथन बताया है। वस्तुतः गुण का जो उदाहरण दण्डी ने दिया है वह गुण का उदाहरण न होकर क्रिया का उदाहरण है। द्रव्य रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वह गुण का उदाहरण है। केशव ने अपने भेदों में दो ही भेद किये हैं—रूप और गुण। यदि दण्डी का द्रव्य से तात्पर्य रूप अर्थात् आकार से है तो फिर गुण के अन्तर्गत क्या रखा जायगा? क्या व्यक्तिगत शौर्य, साहस आदि गुण? यदि ऐसा मानें तो भी दण्डी का गुण का उदाहरण गलत ठहरता है।

जहाँ तक दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये भेदों का प्रश्न है, उनमें से केवल जाति, गुण और क्रिया ही ठीक ठहरते हैं। द्रव्य और गुण एक-दूसरे को आच्छन्न करते हैं।

अग्निपुराणकार ने स्वभाव के दो भेद किये हैं—निज और आगन्तुक। भोज ने सार्वकालिक तथा जायमान, इन दो रूपों के आधार पर अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति में भेद प्रस्तुत किया है। यदि स्वभावोक्ति स्वभाव की उक्ति है और स्वभाव को उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में देखा जाय तो स्वभावोक्ति के अन्तर्गत वस्तु के जायमान और सार्वकालिक दोनों ही रूपों का समाहार हो जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने स्वभावोक्ति के विषय में स्वभाव के जिस स्वरूप को दृष्टि में रखा है वह अत्यन्त संकीर्ण और सतही है। वास्तविकता यह है कि इस अलंकार को कोई प्रतिष्ठित स्थान नहीं मिल सका, इसी कारण उदाहरण के रूप में जो पद सामने आये वे बहुत ही साधारण स्तर के रहे। मानव-स्वभाव की अभिव्यक्ति भी हमारे काव्यशास्त्र के अनुसार स्वभावोक्ति है, परन्तु मानव-

स्वभाव की जैसी समृद्ध मनोवैज्ञानिक उक्तियाँ रस-विवेचन मे नायक-नायिका-भेद मे सामने आई हैं वैसी स्वभावोक्ति के उदाहरण रूप मे नही। क्योंकि यह अलकार अधिकाशत. उपेक्षित ही रहा, अत इसको लक्ष्य मानकर कविता भी नही की जा सकी। आधुनिक काल मे जब काल-सम्बन्धी मानदण्डो मे परिवर्तन आया तो मानव-स्वभाव की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया गया। आज का कहानी साहित्य और उपन्यास-साहित्य यद्यपि गद्य मे है परन्तु वह मानव-स्वभाव का सर्वश्रेष्ठ कथन है।

काव्य मे स्वभाव का अर्थ-विस्तार

जैसाकि कहा जा चुका है, स्वभाव शब्द चार अर्थों मे प्रयुक्त हुआ करता है—१ वस्तु के अस्तित्व के रूप मे २ पदार्थ के गुणो के रूप मे, ३ चेतन प्राणियो के क्रिया-व्यापारो का वर्णन, ४ मानव-स्वभाव का वर्णन।

स्वभाव का प्रथम अर्थ सम्पूर्ण बाह्य जगत् को अपनी परिधि मे समेट लेता है। प्रकृति के प्रत्येक स्वरूप का यथातथ्य वर्णन स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आ जाता है। केवल प्रकृति का व्यक्त रूप ही नही, मानव निर्मित पदार्थ भी उसमे सम्मिलित हो जाते हैं। नदी, पर्वत, समुद्र, वन, जल, अग्नि आदि जितने भी पदार्थ है उन सभी पदार्थों का रूप वर्णन इसके अन्तर्गत आ जाता है। मानव के सास्कृतिक विकास के कारण उत्पन्न नगर, बाग, दुर्ग, भवन, बाँध, पुल, वैज्ञानिक आविष्कार तथा किसी भी पदार्थ-रूप वस्तु के वर्णन को स्वभावोक्ति का क्षेत्र माना जा सकता है।

द्वितीय अर्थ के अनुसार किसी भी अचेतन जड वस्तु के गुणो का वर्णन स्वभावोक्ति का वर्ण्य-विषय है। यह आवश्यक नही है कि किसी भी पदार्थ की समस्त विशेषताओ को कवि एक साथ प्रस्तुत करे। उसकी किसी एक विशेषता को लेकर वर्णन करना भी स्वभावोक्ति का क्षेत्र है। पदार्थ के प्रकृत रूप का वर्णन ही नही, मानव निर्मित वस्तुओ के गुणो और उपयोगिताओ का समाहार इसमे होता है।

चेतन प्राणियो के रूप, गुण और स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति का प्रिय विषय रहा है। शास्त्रकारो ने सस्कृत-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थो मे जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे अधिकाशत स्वभावोक्ति के इसी स्वरूप का समाहार करते हैं। मानवीय क्षेत्र मे बालकादि की क्रीडाएँ और उनकी स्वाभाविक उक्तियाँ स्वभावोक्ति के इसी क्षेत्र मे समाहृत होती हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, चेतन प्राणियों मे मानवेतर प्राणियो के स्वभाव वर्णन के दो स्तर हुआ करते हैं—१. प्राणियो का मूल स्वभाव, और २ प्राणियो का अर्जित स्वभाव। स्वभावोक्ति के क्षेत्र मे यह दोनो ही स्वभाव समाहृत होते हैं। सरकस आदि मे प्रशिक्षित

पशु-पक्षियो का स्वभाव सामान्य पशु-पक्षी से कुछ सीमा तक कुछ विशेषता लिए हुए होता है। अत उसकी क्रीड़ाओ का वर्णन भी स्वभावोक्ति का प्रियतम विषय है।

काव्य का सर्वप्रमुख विषय है मानव। अत स्वभावोक्ति का प्रियतम क्षेत्र भी मानव ही होना चाहिए। परन्तु सस्कृत काव्यशास्त्रियो द्वारा उपस्थित किये गये उदाहरणो मे मानवेतर स्वभाव को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। यदि सस्कृत और हिन्दी-काव्य पर दृष्टिपात किया जाय तो मानव-सम्बन्धी स्वभावोक्ति के उदाहरणो का प्राचुर्य मिलेगा। परन्तु काव्यशास्त्रिया की दृष्टि उस पर कभी स्थिर नही हुई।

मानव-शरीर काव्य का ही नही मूर्तिकला और चित्रकला का भी प्रियतम विषय है। विश्व की मूर्तिकला और चित्रकला म ८० प्रतिशत अकन मानव-शरीर का ही हुआ है। इसी प्रकार काव्य म भी अन्य प्राणियो की अपेक्षा मानव-शरीर के वर्णन का प्राचुय है। रूप-वर्णन, नखशिख-सौन्दर्य-चित्रण तथा इसी प्रकार उसके विविध अगो का मनोहारी रूप म वर्णन करना स्वभावोक्ति का प्रिय विषय है। काव्य म व्यक्ति के शरीर की विशेषताएँ, उसके सचालन आदि का वर्णन स्वभावोक्ति का ही वर्ण्य विषय है।

जहाँ तक गुणो का सम्बन्ध है, कवि अपने वर्णन के द्वारा मानव की उन मूल-वृत्तियो को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक होती हैं। वह यद्यपि वर्णन का विषय किसी एक व्यक्ति के गुणो को चुनता है परन्तु अन्त मे जाकर अपनी सूक्ष्म-दृष्टि के आधार पर मानव-स्वभाव की उन मूल विशेषताओ का उद्घाटन करता है जो जाति के रूप मे मानव-जाति का वैशिष्ट्य है। इस वर्णन के अन्तर्गत मानव की मूल वृत्तियो का उद्घाटन किया जाता है। सामाजिक और सास्कृतिक आवरणो की प्राचीर को चीरकर उसकी मर्मभेदिनी दृष्टि मानव स्वभाव की उन मूल विशेषताओ को पकड़ती है जो देश और काल की सीमा स परे है।

परन्तु मानव-स्वभाव पर देश, काल और सास्कृतिक परिवेश का भी प्रभाव पडा करता है। भौगोलिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भी उसके स्वभाव को एक विशिष्ट दिशा मे मोड दिया करती हैं। अत देश, काल, धर्म, सस्कृति और भाषा के प्रभाव से उत्पन्न स्वभावगत विशेषताओ का चित्रण स्वभावोक्ति का सबसे प्रिय विषय है। इग्लैंड, अमेरिका, भारत और चीन के नागरिको म अपने परिवेश की विशेषताओ के कारण कुछ विशिष्ट स्वभावगत वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ करते हैं जो उनकी राष्ट्रीय विशेषताएँ हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ये विशेषताएँ शारीरिक, मानसिक और व्यवहारगत तीनो प्रकार की हुआ करती हैं। ये मूल सास्कृतिक विशेषताएँ जब काव्य का वर्ण्य-विषय

बनती हैं तो स्वभावोक्ति के लिये एक श्रेष्ठ क्षेत्र उपस्थित किया करती हैं।

किसी भी जीवन्त राष्ट्र की सबसे बडी विशेषता होती है उसकी प्रगतिशीलता। प्रगतिशीलता के कारण प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक जिन सास्कृतिक विशेषताओं का अर्जन करते हैं वे विशेषताएँ भी स्वभावोक्ति का ही क्षेत्र हैं।

ग्रीक काव्यशास्त्रियों ने काव्य का वर्ण्य-विषय माना है Human Action अर्थात् मानवीय क्रियाएँ। स्थिरता और गतिशीलता मे से एक अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक तत्त्व है। मानव की क्रियाएँ उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं का प्रतिफलन हुआ करती हैं। कुछ क्रियाएँ अपेक्षाकृत अधिक छोटी और रम्य होती हैं, उनमें तीव्रता का तत्त्व अधिक मयकर नही होता। परन्तु कुछ क्रियाएँ अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, व्यापक और विराट होती है। युद्ध एक ऐसी ही विराट् और तीव्र क्रिया है। खेल-कूद की त्वरित गति तथा आत्म-रक्षा की भावना से उत्पन्न गति का लाघव स्वभावोक्ति के ऐसे प्रिय विषय हैं जिनका विस्तार और वर्णन मानव स्वभाव की विशेषताओं को बडे ही आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त सभी वर्णन वस्तुगत सौन्दर्य के निरूपण के अन्तर्गत आते हैं। जैसाकि सस्कृत काव्यशास्त्र म स्वभावोक्ति का वर्णन करत समय स्पष्ट किया जा चुका है, सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने वस्तुगत सौन्दर्य को ही स्वभावोक्ति का विषय माना है। इसका बहुत-कुछ कारण सम्भवत यह है कि उन्होने मानव-स्वभाव को स्वभावोक्ति के अन्तर्गत समाहृत करने का प्रयास नही किया। काव्य का वास्तविक वर्ण्य-विषय तो मानव है और काव्य मे जिसे स्वभावोक्ति कहा जाय उसमे मानव-स्वभाव का ही व्यापक रूप से समाहार न हो तो स्वभावोक्ति नाम सार्थक नही ठहरता। अत स्वभावोक्ति के अन्तर्गत मानव-स्वभाव का समाहार आवश्यक ही नहीं अनिवाय भी है। काव्य मे मानव के स्वभाव का समाहार चरित्र-चित्रण के रूप म होता है और यह चरित्र चित्रण मानव-स्वभाव का सास्कृतिक पक्ष है।

सैक्स मानव कार्यों का सचालन करनेवाली एक प्रमुख प्रवृत्ति है। फ्रायड के अनुसार तो मनुष्य के सभी कार्य सैक्स द्वारा ही परिचालित होते है। इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक सस्कृति न इस प्रवृत्ति के निष्कासन और शान्ति के लिये अपनी-अपनी अलग अलग व्यवस्था की है परन्तु यह प्रवृत्ति इतनी अधिक व्यापक और सबल है कि सस्कृति के बन्धनों मे बँधकर नही रह पाती। साथ ही सस्कृति द्वारा निश्चित किये गये सामाजिक बन्धन भी इतने अधिक सशक्त होते हैं कि उनको तोड पाना व्यक्ति के लिये सम्भव नही होता। परिणामस्वरूप प्रत्येक देश की सस्कृति के अनुसार यह वृत्ति अभिव्यक्त होने के लिये स्त्री और

पुरुष मे एक निश्चित स्वभाव का विकास कर देती है। भारत मे सैक्स पर सामाजिक नियंत्रण पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कुछ अधिक कड़ा रहा है। अत यहाँ की नायिकाओं में एक विशिष्ट प्रकार के स्वभाव का विकास हुआ है। सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य म वर्णित नायिका-भेद आयु, परिस्थिति और वैयक्तिक तत्त्व के अनुसार नायिकाओं के स्वभाव का सीधा-सीधा वर्णन करता है। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा आयु के अनुसार नारी के सैक्स-व्यवहार-सम्बन्धी स्वभाव को प्रस्तुत करते हैं। अभिसार भारत की सस्कृति की आवश्यकता रही है, इसी कारण दिवाभिसारिका और निशाभिसारिका और उसम कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका आदि भेद सामने आए। अन्य देशो की सस्कृति सम्भवत अभिसार के अभाव मे ही कार्य कर सकी। अत वहाँ अभिसार की कोई आवश्यकता ही नही थी। इगलैण्ड और अमेरिका का अभिसार भारतीय रमणी के अभिसार की अपेक्षा एकदम भिन्न प्रकार का रहता है। प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका और आगमिष्यत्पतिका के लक्षण तथा व्यवहार उस समय की सास्कृतिक सीमाओ द्वारा ही निर्धारित हुए हैं। दूती का स्वभाव और कार्य भी उसी का परिणाम है। इनके व्यवहारो के सम्बन्ध मे हाव-भाव और हेला का जो वर्णन किया गया है वह वर्णन भी स्वभावोक्ति का रम्यतम विषय है। वस्तुत मानव प्रकृति से सम्बन्धित तत्कालीन सास्कृतिक परिवेश मे स्वभावोक्ति के जितने सुन्दर उदाहरण रीतिकालीन नायिका-भेद म उपलब्ध होते हैं, उतने कही भी नही। विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, कुट्टमित आदि हाव स्वभावोक्ति के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।

भारत की सस्कृति वर्ग-बद्धता मे विश्वास करती आई है। प्रारम्भ मे ये वर्ग कर्म के अनुसार थे, परन्तु वही कर्म परम्परागत हो जाने के कारण ये वर्ग जन्म के अनुसार दृढ होकर विभिन्न जातियों के रूप मे सामने आये। कर्म का मानव-स्वभाव पर गहरा प्रभाव पडता है। इस सम्बन्ध मे हम गीताकार का मत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। रीतिकालीन नायिका-भेद के रचयिता इस ओर से भी सजग रहे और देव जैसे कवियो ने भ्रमण करके अलग-अलग वर्ण और जाति तथा कर्म से सम्बन्ध रखनेवाली नायिकाओ के स्वभाव का अन्तर आत्मस्थ कर एक महस्र से ऊपर नायिकाओं का नायिका-भेद प्रस्तुत किया है जिनमे ब्राह्मणी, वैश्या, क्षत्राणी और शूद्रा की विभिन्न जातिया—कहारिन, कुम्हारिन, सुनारिन, रगरेजिन आदि के स्वभाव का सुन्दर अकन है। यह सत्य है कि रीतिकालीन कविया की दृष्टि मात्र नारी पर ही केन्द्रित रही अत वे किसी महान् और उदात्त काव्य को प्रस्तुत नही कर पाये। परन्तु उनके काव्य ने तत्कालीन भारतीय परिस्थितियो म नारी-स्वभाव के सूक्ष्मतम वैशिष्ट्य को भी काव्यबद्ध किया है। इस सम्पूर्ण व्यवहार के मूल मे शाश्वत नारीत्व सूक्ष्म

रूप से समाहित है, इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती; परन्तु मूल रूप से वह तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश में ही भारतीय नारी के स्वभाव का अंकन है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों और सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण स्थिति कुछ बदल गई है, अतः आज की परिस्थितियों में नायिकाओं का सैक्स-व्यवहार रीतिकालीन व्यवहार से निश्चित ही भिन्न है। स्वभाव में अन्तर स्पष्ट है। टेलीफोन, तार और पत्र के कारण आज विप्रलब्धा नायिकाओं के अनेक भेद व्यर्थ हो चुके हैं। नारी-स्वातन्त्र्य और सामाजिक बन्धनों के विरोध के कारण भी नारी के प्राचीन स्वभाव में अन्तर आया है। परन्तु आज की जटिल सामाजिक व्यवस्था ने नारी-स्वभाव के जिन नये स्तरों को सामने प्रस्तुत किया है उनका अध्ययन अत्यन्त रोचक है। यह अध्ययन आज की कविता न करके कहानी कर रही है।

जैसाकि कहा जा चुका है, प्रत्येक संस्कृति के वर्ग उस संस्कृति के वैशिष्ट्य को व्यक्त करते हैं और अपना एक वर्गगत स्वभाव विकसित कर लेते हैं। वर्गबद्धता का प्रभाव सैक्स सम्बन्धी व्यवहार पर उतना नहीं पड़ता जितना कि अन्य क्षेत्रों में व्यवहार करते समय ये विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। भारत में भी प्रत्येक वर्ग का अपना स्वभाव, अपनी कुण्ठाएँ और अपना वैशिष्ट्य विकसित हुआ है। दिनकर ने 'रश्मि-रथी' में ब्राह्मण और क्षत्रिय के स्वभावगत अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> परशुराम गम्भीर हो गये सोच न जाने क्या मन में।
> फिर सहसा क्रोधाग्नि भयानक भभक उठी उनके तन में।
> दाँत पीस आँखें तरेर कर बोले—कौन छली है तू?
> ब्राह्मण है या और किसी अभिजन का पुत्र बली है तू?
> सहनशीलता को अपनाकर ब्राह्मण कभी न जीता है।
> किसी लक्ष्य के लिये नहीं अपमान हलाहल पीता है।
> सह सकता जो कठिन वेदना, पी सकता अपमान वही।
> बुद्धि चलाती जिसे, तेज का कर सकता बलिदान वही।
> तेज-पुञ्ज ब्राह्मण तिल-तिलकर जले, नहीं यह हो सकता?
> किसी दशा में भी स्वभाव वह अपना कैसे खो सकता?
> कसक भोगता हुआ विप्र निश्चल कैसे रह सकता है?
> इस प्रकार की चुभन-वेदना क्षत्रिय ही सह सकता है?[1]

इस प्रकार का ब्राह्मण और क्षत्रिय-स्वभाव का अन्तर आज भी स्पष्टतः

---

१. रश्मिरथी, दिनकर, पृ० १७

देखा जा सकता है। समाज-रचना के विकास के साथ-साथ वर्ग-भेद के आधार बदले और उन्ही के अनुसार स्वभाव-परिवर्तन का प्रश्न हुआ। आर्थिक पक्ष सबल हो जाने के कारण आज वर्ग-भेद आर्थिक आधार पर स्थिर हुआ है। उत्पत्ति के साधनो पर अधिकार रखनेवाले पूँजीपतियों का अपना अलग स्वभाव है और साधनहीन श्रमिक वर्ग का अपना अलग स्वभाव है। आज का मध्यम वर्ग भी अपने निजी स्वभाव से युक्त है। निम्न वर्ग भी ट्रेड के आधार पर अनेक उपवर्गों मे विभक्त हो गया है—किसान, मजदूर, ठेलाचालक, होटल का बैरा आदि। इन सबका अपना-अपना वर्गगत स्वभाव है। अन्य प्रकार के तथ्यो ने भी तरह-तरह के वर्ग उपस्थित किये हैं। प्रान्तीयता की दृष्टि से देखें तो बगाली और महाराष्ट्रीय व्यक्तियो मे केवल भाषा और पहनावे का ही अन्तर नही है, उनमे स्वभाव का भी अन्तर है। एक अधिक मृदु और कोमल मिलेगा जबकि दूसरे का पुरुषार्थ अपनी छाप छोडेगा। आज तो प्रत्येक राजनैतिक दल का भी अपना-अपना स्वभाव निश्चित हो गया है। एक दल के सभी लोग एक ही निश्चित तर्कप्रणाली का अवलम्ब लेते हैं। उनके बोलने का ढग भी एक ही होता है। हिन्दू-सभाई एडियाँ उचकाकर बोलता है और जनसघी प्रारम्भ मे धीरे-धीरे और दो वाक्यों मे कुछ समय दे-देकर। काग्रेस के वक्ता मे एक शाति और ठण्डापन मिलेगा जबकि प्रत्येक कम्यूनिष्ट कार्यकर्ता का भाषण एकदम जोशीला। राजनैतिक दल ही नही, विश्वविद्यालय-विशेष का भी अपना स्वभाव बनता जा रहा है। प्रत्येक विश्वविद्यालय के विभागीय अध्यक्ष की भाषण-प्रणाली, लेखन-शैली और स्वभाव का प्रभाव विद्यार्थियो पर स्पष्टत देखा जा सकता है।

कलाकार का एक कार्य होता है—वर्ग की सूक्ष्मतम विशेषताओ को पकडकर चरित्रो के माध्यम से उस वर्ग की स्थिति को स्पष्ट कर तत्कालीन सास्कृतिक परिवेश को प्रस्तुत करना। आज यह कार्य कविता के माध्यम से न होकर—खण्डकाव्यों और महाकाव्यों के माध्यम से न होकर, उपन्यास, कहानी और एकाकी के माध्यम से हो रहा है। प्रेमचन्द, रागेय राघव, भगवतीचरण वर्मा और गुरुदत्त के अधिकाश पात्र किसी-न किसी वर्ग के स्वभाव को प्रस्तुत करते हैं। प्रबन्ध-काव्यों मे से कुछ ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो वर्गगत विशेषताओ को प्रस्तुत करते हैं। लोकायतन, युगद्रष्टा और अजित मे इस प्रकार के चरित्र मिलते हैं। परन्तु मुक्तक काव्य में वर्गगत विशेषताएँ अपेक्षाकृत अधिक उभरी हुई हैं।

यदि मानव ही काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय है तो स्वभावोक्ति का सीधा-साधा अर्थ होता है चरित्र चित्रण। परन्तु इस सदर्भ मे दो बातो पर विचार करना आवश्यक है। एक तो यह कि क्या चरित्र-चित्रण का प्रत्येक

स्वरूप स्वभावोक्ति के अंतर्गत आता है ? दूसरा यह कि यद्यपि चरित्र चित्रण कविता के प्रमुखतम साध्यों म से एक है तथापि वर्तमान गद्य-साहित्य ने जो यह सिद्ध कर दिया है कि कविता की अपेक्षा गद्य-साहित्य अर्थात् कथा-साहित्य स्वभावोक्ति के लिए अधिक उपयुक्त विधा है, क्या सत्य है ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि चरित्र-चित्रण दो प्रकार का होता है—१ सामान्य चरित्र (Normal character), और असामान्य चरित्र (Abnormal character)। सामान्य चरित्र चित्रण का आधार सामान्य मनोविज्ञान (Normal psychology) हुआ करता है और असामान्य चरित्र-चित्रण का आधार होता है असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal psychology)। असामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति के असामान्य व्यवहारों के मूल कारणों की ओर सकेत करके मनोविश्लेषणशास्त्र के आधार पर एक व्यक्ति के स्वभाव का उद्घाटन करता है। यह व्यक्ति अपने-आपम एक और निराला होता है। इसम सदेह नहीं कि उसके असामान्य स्वभाव का निर्धारक-तत्त्व होता है सामाजिक परिवेश और वैयक्तिक चेतना के सघर्ष से उत्पन्न असगति, परन्तु वह चरित्र व्यक्ति का ही चरित्र होता है। शुक्ल जी ने ऐसे चरित्रों को 'नकली हृदय' की सज्ञा दी है और विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन चरित्रों के बारे मे कहा है कि भले ही नकली हो परन्तु उनको स्वभावोक्ति कहने मे आपत्ति कहाँ है !

हमारा विनम्र निवेदन यह है कि यदि स्वभावोक्ति शब्द के अर्थ का पूर्ण अनुकरण करके इस प्रश्न पर विचार करें तो निस्सन्देह मिश्र जी की बात सत्य ठहरती है, परन्तु स्वभावोक्ति का कितना भी अर्थ विस्तार क्यों न कर दिया जाय, हम भारतीय काव्य शास्त्रियों द्वारा उपस्थित की गई उस पृष्ठ-भूमि का त्याग नहीं कर सकते जो उसका मूल तत्त्व है। स्वभावोक्ति के आधार का मूल तत्त्व है व्यक्ति की ऐसी विशेषताओं का अकन जो व्यक्तिगत होते हुए भी समूह की विशेषताओं की ओर सकेत करें। इसी कारण भारतीय काव्य शास्त्रियों ने इसको जाति की सज्ञा भी दी है अन्यथा स्वभाव की उक्ति को जाति-सज्ञा देने का कोई भी कारण नहीं है। यदि व्यक्ति-वैचित्र्यवादी स्वभाव से उनका तात्पर्य होता तो उसको जाति सज्ञा कभी भी नहीं प्रदान करते।

इसम सदेह नहीं कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा कि वस्तु के सार्वकालिक स्वरूप को स्वभावोक्ति माना जाय या जायमान रूप को ? अनेक आचार्यों ने जायमान रूप को स्वभावोक्ति माना, परन्तु साथ ही सार्वकालिक रूप के वर्णन को भी किसी अलकार या गुण के अतर्गत समाहृत कर लिया। स्मरण रखने की बात यह है कि हमने स्वभावोक्ति म वैयक्तिक और सार्वकालिक दोनों ही रूपों का समाहार किया है, परन्तु इसका अर्थ यह

नहीं है कि जायमान खंड सार्वकालिक से विपरीत कोई वस्तु है। वस्तुतः वह सार्वकालिक का ही एक रूप है। अतः दोनों का समाहार स्वभावोक्ति के अर्थ-विस्तार में सर्वथा उचित है। परन्तु इस तर्क के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि सामान्य चरित्र और असामान्य चरित्र दोनों ही स्वभावोक्ति के अर्थ-विस्तार में समाहृत कर लिये जायँ। सामान्य चरित्र कितने भी विशिष्ट क्यों न हों वे सामाजिक आधार को नहीं छोड़ते। उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बनी रहती है जबकि असामान्य चरित्र घोर व्यक्तिवादी होते हैं और अनेक बार अपने परिवेश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से छिटककर अलग हो जाते हैं। कठिनाई यह है कि इनकी असामान्यता उनको 'जाति' के अन्तर्गत समाहृत करने देने में बाधक रहती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि स्वभावोक्ति की पृष्ठभूमि इस बात को सिद्ध करती है कि उसका आधार बाह्य जगत् का वस्तुगत सौन्दर्य है और सामान्य चरित्र कभी भी अपने बहिर्जगत् की सत्ता से अपने को विच्छिन्न नहीं कर पाते, जबकि असामान्य चरित्र विशुद्ध रूप से अन्तर्जगत् का चित्रण बन जाते हैं, बहिर्जगत् से लगभग अविच्छिन्न हो जाते हैं। अतः असामान्य चरित्रों को स्वभावोक्ति के क्षेत्र में व्याप्त करना स्वभावोक्ति के वस्तुवादी आधार को सर्वथा खो देना है।

जहाँ तक द्वितीय प्रश्न का सम्बन्ध है यह सत्य है कि काव्य शब्द अपनी सीमा में पद्य के साथ-साथ गद्य का भी समाहार कर लेता है। यह भी सत्य है कि कथा-साहित्य मानव-चरित्र को जितना अधिक सही ढंग से प्रस्तुत कर सकता है, जितना अधिक व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत कर सकता है उतना कविता नहीं। परन्तु फिर भी स्वभावोक्ति के क्षेत्र में हम कथा-साहित्य के चरित्र-चित्रण को समाहित नहीं कर सकते। कारण यह है कि जैसाकि हम आगामी अध्याय में स्पष्ट करेंगे, स्वभावोक्ति का शैली-पक्ष व्यंजना और लक्षणा से हटकर अभिधा पर बल देता है जबकि कहानी की शैली मुख्य रूप से व्यंग्यात्मक ही होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि उपन्यास में कहानी की अपेक्षा अभिधा के लिये अधिक अवकाश होता है; परन्तु असामान्य चरित्रों पर बल देनेवाले उपन्यासों की शैली भी अधिकांशतः व्यंग्यात्मक ही होती है। अतः वह स्वभावोक्ति का विशुद्ध स्वरूप नहीं हो सकता। परन्तु कथा-साहित्य में अभिधात्मक शैली पर होनेवाले सामान्य चरित्र-चित्रण को हम निस्सन्देह ही स्वभावोक्ति में समाहृत कर सकते हैं।

स्वभावोक्ति का शैली-पक्ष

गत अध्याय मे हमने स्वभावोक्ति के वर्ण्य-विषय के विस्तार को प्रस्तुत किया है। परन्तु यदि विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि स्वभावोक्ति के वर्ण्य-विषय के इस विस्तार के अन्तर्गत सम्पूर्ण काव्य का वर्ण्य-विषय ही समाहृत हो जाता है। केवल विचार-तत्त्व की अभिव्यक्ति ही एक ऐसा वर्ण्य-विषय ठहरता है जो इस विस्तार की सीमा मे नही आ सकता। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण वस्तु-तत्त्व इसके अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु स्वभावोक्ति का वर्ण्य-विषय 'स्वभाव' होने पर भी 'स्वभाव' का किसी भी शैली मे अङ्कन स्वभावोक्ति के अन्तर्गत नही आ सकता। स्वभावोक्ति की एक अपनी शैली है। वस्तुत 'स्वभाव' शब्द का व्यापक रूप मे अर्थ लेने पर स्वभावोक्ति को कुछ निश्चित वर्ण्य-विषयो में विभक्त करके नही रखा जा सकता। वह लगभग काव्य का ही पर्याय हो उठता है। परन्तु स्वभावोक्ति को अन्य प्रकार के काव्य से अलग करनेवाला तत्त्व उसका शैली-पक्ष है। यह शैली-पक्ष कुछ ऐसी स्पष्ट विशेषताओ से युक्त है जो स्वभावोक्ति के स्वरूप को बहुत दूर तक स्पष्ट कर देता है।

द्वितीय तथा तृतीय अध्याय म प्रस्तुत सस्कृत काव्यशास्त्रियो के मतो पर विचार करने से ज्ञात होता है कि स्वभावोक्ति के शैली-पक्ष की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर सकेत किया गया है—१ अग्राम्यत्व, २ पुष्टार्थ, ३ चारुत्व, ४ चमत्कार, ५ अद्‌भुतार्थ, ६ चित्रोदात्त, ७ निर्व्यजिता। इन शैलीगत विशेषताओ पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इनमे से प्रथम पाँच विशेषताएँ ऐसी हैं जो स्वभावोक्ति की नही वरन् काव्य होने की अनिवार्य शर्ते हैं फिर *काव्यशास्त्रियो ने स्वभावोक्ति के साथ इन्हें क्यो जोडा ? इसका मुख्य कारण* है कि जब कभी किसी पशु-पक्षी या पदार्थ की विशेषताओ का वर्णन काव्य मे किया जाता है तो अनुभूति-तत्त्व की विरलता के कारण ऐसा वर्णन कुछ इस प्रकार का हो उठता है कि वह काव्य न रहकर पद्यबद्ध वर्णन मात्र हो जाता है। यही कारण है कि सस्कृत का प्रत्येक काव्यशास्त्री इस प्रश्न की ओर से

पूर्ण सजग रहा कि जहाँ कहीं भी स्वभाव का वर्णन हो अथवा यथातथ्य वर्णन हो वहाँ कवि इस ओर से सावधान रहे कि उसकी कृति कहीं अकाव्य न बन जाय। 'किं काव्यम्' और 'वार्ता' के वैषम्य में स्वभावोक्ति को इसी कारण प्रतिष्ठित किया गया कि उसमें काव्यत्व की अनिवार्य अपेक्षा की जाती है। स्वभाव के यथातथ्य वर्णन की नीरसता को रोकने के लिए ही चारुत्व, चमत्कार और अद्भुतार्थ या पुष्टार्थ की अनिवार्यता प्रस्तुत की गई। बाणभट्ट द्वारा उपस्थित की गयी विशेषता है अग्राम्यत्व। अग्राम्यत्व का अर्थ है शिष्टता से युक्त। अतः 'अग्राम्य जाति' कहते समय उनका यही उद्देश्य रहा है कि उसमें सुशिक्षित और सुसंस्कृति के तत्त्व होने ही चाहिए। काव्य कितना ही जन-जीवन के निकट क्यों न हो उससे यह अपेक्षा रहती ही है कि वह शिष्ट और सभ्य हो।

अन्तिम दो विशेषताएँ हैं—निर्व्याजता और चित्रोदात्तता। यह दोनों विशेषताएँ निश्चित रूप से ही स्वभावोक्ति की शैली विषयक विशेषताएँ हैं। निर्व्याजता का अर्थ होता है अप्रस्तुत विधान का अभाव। स्वभावोक्ति की शैली की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि वह आरोपण, तुलना और कण्ट्रास्ट से दूर रहकर तथ्य के प्रति निष्ठावान् रहती है। द्वितीय विशेषता है चित्रोदात्तता। इसका अर्थ है कि आरोपण से दूर होने पर भी उसमें बिम्ब उपस्थित करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। चित्र के साथ जुड़ा उदात्त शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि चित्र की कोटि उत्तम होनी चाहिये। अर्थात् चित्र अस्पष्ट (vague) न होकर स्पष्ट (distinct) होना चाहिये।

स्वभावोक्ति शैली की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के साथ-साथ ऐसी अन्य विशेषताएँ भी ढूँढी जा सकती हैं जो स्वभावोक्ति-शैली में बहुधा पायी जाती हैं। संक्षेप में यह सब विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ निरलंकृतता, २ निर्व्याजता, ३ लक्षित, बिम्ब-विधान, ४ सारल्य, ५ इतिवृत्तात्मकता, ६ परिगणना और अभिधात्मकता।

१ निरलंकृतता

अलङ्कारों की दृष्टि से हम काव्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—अतिअलंकृत, अलंकृत और निरलंकृत। अतिअलंकृत काव्य वह है जहाँ कवि का ध्यान अलंकार की साधना पर ही केन्द्रित रहता है। ऐसे काव्य को Tillyord ने Disguired statement या छद्म-वक्तव्य कहा है। अलंकृत काव्य के अन्तर्गत हम काव्य के उस भाग को रख सकते हैं जिसे भोज ने वक्रोक्ति का नाम दिया है। परन्तु स्वभावोक्ति की शैली अनलंकृत शैली होती है। अपने काव्य को अलंकृत करने के लिये कवियों ने जो तोड़ प्रयास किये हैं और अनेक चमत्कारों से उनको मुक्त किया है, यह जितना बड़ा सत्य है, उतना ही बड़

सत्य यह भी है कि काव्य मे अलकार स्वाभाविक गति से आते हैं। उनकी स्वाभाविक गति को रोकने से भी काव्य अस्वाभाविक हो उठता है। परन्तु स्वभावोक्ति-शैली अलकारो से सप्रयत्न भागने पर बनी शैली का नाम नहीं है। स्वभावोक्ति-शैली की एक विशेषता अनलकृतता है, इसका तात्पर्य यह है कि यदि काव्य को लिखते समय अलकारो से भागने का प्रयास नही किया गया है और लिखा गया काव्य स्वत ही निरलकृत रूप मे है तो इस शैली को ही हम स्वभावोक्ति कहेगे क्योकि स्वभावोक्ति का एक अर्थ स्वाभाविक उक्ति भी है। ऐसा काव्य जो अनलकृत है हो सकता है कि अपने अन्य अभावों के कारण काव्य की कोटि मे ही न आ सके परन्तु यदि वह काव्य की कोटि मे आता है तो वह अलकृत काव्य की अपेक्षा निश्चित ही अधिक स्वाभाविक होगा। कारण यह है कि निरलकृत काव्य की रचना वही कर सकता है जो विषय की तीव्र अनुभूति के कारण, अप्रस्तुत विधान और वाणी-विलास का सहारा लिये बिना ही विषय को स्पष्टत व्यक्त करने मे समर्थ हो। अनुभूति का विषय स्पष्ट होकर सामने आता है अतः उसे किसी भी बाह्य सहारे की आवश्यकता नही होती। स्पष्ट अनुभूति के कारण ही मीरा बिना किसी अलकार के ही लिख उठती है— ए री ! मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।' परन्तु अस्पष्ट और उलझी हुई अनुभूति वाला रहस्यवादी कवि लम्बे अप्रस्तुत विधान और सश्लिष्ट चित्रो तथा तरल शब्दो मे अभिव्यञ्जना करता है।

काव्य-शिल्प के अद्वितीय समर्थक और वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानने वाले कुन्तकाचार्य ने भी स्वाभविक वर्णन मे अलकारो के निषेध की व्यवस्था की है। उनका मत है कि अलकारो के प्रयोग से स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाता है। सुन्दरी स्त्री सब प्रकार से अलकार्य होने पर भी स्नान के समय या विरह के कारण व्रत लिये हुए होने पर और सुरत के बाद अधिक अलकार धारण नही करती क्योकि उन दशाओ मे स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिको को अधिक आनन्द-दायी होता है। अत स्त्रियों के नवयौवनागमन आदि पदार्थ और सुकुमार वसन्त आदि ऋतुओ के प्रारम्भ पूर्ण और परिसमाप्ति आदि अपने प्रतिपादक वाक्यो के अतिरिक्त अलकृत रूप मे उपस्थित किये जाते हुए प्राय नही पाये जाते।[१] अपनी बात की पुष्टि मे कुन्तक ने ८-९ अत्यन्त सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। यहाँ हम हिन्दी-काव्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके स्वभावोक्ति-शैली के इस वैशिष्टय को स्पष्ट करेंगे।

हमारा प्रथम उदाहरण श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'ऊर्मिला' से है। प्रसग है लक्ष्मण विवाह के उपरान्त लक्ष्मण का ऊर्मिला के माध्यम से सुमित्रा

१ हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्, अनुवादक आचार्य विश्वेश्वर, सम्पादक डा० नगेन्द्र के आधार पर।

माता से वन विहार के लिये चलने की प्रार्थना करना। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

कहो तो रानी है क्या बात
सुमित्रा बोलीं हुलसे प्राण
मन्द मुसकान विलसने लगी
जुट गया सुषमा का सामान;
ऊर्म्मिला ने धीरे से श्रोह
बहुत धीरे से अपना अधर—
हुलाए लाज निछावर हुई
उठी यह मधुरा वाणी निखर
कुछ समय से यह इक प्रस्ताव
कर रहे हैं मुझसे दिन रात
चलें विन्ध्याद्रि दरस के हेतु
आपको लेकर अपने साथ
"सताती है इनको माँ, देवि,
आपसे कहने मे कुछ लाज
इसी से मुझे बीच में डाल
कर रहे थे ये अपना काज,"
ऊर्म्मिला के सुनकर ये बैन
सुमित्रा मात हुई निहाल
और लक्ष्मण से कहने लगी
'बात इतनी ही थी, क्यों लाल?
क्या फिर तुमने कौशल और
नीति से लेना चाहा काम,
ऊर्म्मिला का लेकर यों नाम
कर रहे क्यों उसको बदनाम'
वत्स वन यात्रा की यह बात
तुम्हारी मुझको है स्वीकार
तुम्हीं दोनों जाओ सुदमान
क्योंकि मम गमन कठिन इस बार
पूछ लूंगी नरपति से आज
तुम्हारे जाने में क्या देर?
दास दासी सब हैं तैयार
सुनो तुम वन विहँगों की टेर[1]

१. ऊर्म्मिला, बालकृष्ण शर्मा नवीन', पृष्ठ ११६ ११७

यह उद्धरण निश्चित ही काव्य का उदाहरण है क्योंकि काव्य के लिए अनिवार्य चारुत्व इसमे है। परन्तु यह अलकृत काव्य-शैली का उदाहरण न होकर अनलकृत काव्य शैली का उदाहरण है, स्वभावोक्ति-शैली का उदाहरण है। लक्षणा और व्यजना के जो प्रयोग इसमे आये हैं वे अत्यन्त सरल और निकट जीवन के हैं अत इसमे वह अलकारत्व नहीं जो वक्रोक्ति शैली मे रहा करता है। यह स्वभावोक्ति शैली का ही उदाहरण है। हमारा दूसरा उदाहरण है, दिनकर कृत 'उर्वशी' से। प्रसग है औशीनरी और निपुणिका का वार्तालाप—

निपुणिका
सुन लिया सन्देश आर्ये ?
औशीनरी
हाँ अनोखी साधना है
अप्सरा के सग रमना ईश की आराधना है!
पुत्र पाने के लिये विहरा करें वे कुञ्ज वन में
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भुवन में
कितना विलक्षण न्याय है
कोई न पास उपाय है
अवलम्ब है सबको मगर नारी बहुत असहाय है
दुख दर्द जतलाओ नहीं
मन की व्यथा गाओ नहीं
नारी! उठे जो हूक मन मे जीभ पर लाओ नहीं।[1]

गन्ध-मादन वन मे उर्वशी के साथ रमण कर रहे पुरूरवा ने औशीनरी को पूजा पाठ करने का सन्देश भेजकर कहलवाया है कि वह स्वय वन मे ईश्वर की आराधना कर रहा है। सम्पूर्ण काव्य खड अनलकृत और एकदम सरल है। व्यग्य का पुट ही वह वैशिष्ट्य है जिसने इसको पुष्टता या चमत्कार से युक्त बनाया है। परन्तु ये पक्तियाँ मूलत स्वभावोक्ति शैली का उदाहरण हैं। पुरुरवा की पत्नी का सहज उच्छवास और नारी की व्यथा एकदम निरलकृत शैली में प्रस्तुत हुई है। हमारा अन्तिम उदाहरण 'रश्मिरथी' में प्रकृति चित्रण का एक उदाहरण है—

शीतल विरल एक कानन शोभित अधित्यका के ऊपर,
कहीं उत्स प्रस्रवण चमकते झरते कहीं शुभ्र निर्झर।
जहाँ भूमि समतल सुन्दर है नहीं दीखते हैं पाहन
हरियाली के बीच खड़ा है, विस्तृत एक उटज पावन

१. उर्वशी, द्वितीय अंक, दिनकर, पृष्ठ ३८

घास-पात कुछ कटे हुए पीले धनखेत सुहाते हैं।
शशक मूस गिलहरी कबूतर घूम-घूम कण खाते हैं।
कुछ प्रशान्त अलसित बैठे हैं कुछ करते शिशु का लेहन।
कुछ खाते शाकल्य, दीखते बड़े तुष्ट सारे गोधन।[1]

यहाँ एक अन्य बात पर भी विचार करना आवश्यक है। भारत में अलंकारवादी सम्प्रदाय का इतना अधिक बोलबाला रहा है कि शास्त्र-रचना करते हुए प्रत्येक प्रकार के कौशल को अलंकार के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया गया है। यों तो प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रत्येक प्रकार के काव्य-कौशल को अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया, परन्तु अलंकार-सम्प्रदाय इस ओर विशेष जागरूक रहा। जहाँ रस है वहाँ रसवद् अलंकार, जहाँ स्वभाव है वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार और जहाँ कुछ भी नहीं है वहाँ अभाव अलंकार मानने का आग्रह करनेवाले विद्वान् आज भी हैं। केशव जैसे अलंकारवादी जो काव्य-शैली से लेकर वर्ण्य-विषय तक को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करते हैं, उपर्युक्त उदाहरणों मे कुछ अलंकारों की ओर सकेत कर ही सकते हैं। परन्तु निरलंकृतता से हमारा तात्पर्य केवल शैली-वैशिष्ट्य से है, विषय-वस्तु से नहीं। दूसरे, शैली में भी हमे इतनी छूट देनी ही होगी कि जो मुहावरे और कहावतें नित्य-प्रयोग में आते रहने से सीधे-सीधे अपने लक्ष्यार्थ की ही ओर इंगित करती हैं उनको भी इसमे समाहृत कर लिया जाय। कारण यह है कि ये मुहावरे लक्षणा और व्यंजना छोड़कर नित्य-प्रयोग मे अभिधात्मक हो गये हैं।

२. निर्व्याजता

निर्व्याजता से हमारा तात्पर्य है अप्रस्तुत-विधान से विहीन काव्य। जब कभी कवि किसी अप्रस्तुत को उपस्थित करता है तो अप्रस्तुत की कोई एक विशेषता ही प्रस्तुत की किसी एक विशेषता से साम्य रखती है। उपमा सदा एकांगी ही रहती है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत का कोई एक गुण ही उपमा का औचित्य सिद्ध करता है। प्रस्तुत को अनेक विशेषताओं को प्रस्तुत करने के लिये कवि को अनेक उपमानों का नियोजन करना पड़ता है। सांग-रूपक की सृष्टि इसी प्रकार होती है। उत्प्रेक्षा एक-अंशीय भी होती है और बहु-अंशीय भी। रूपक मे यद्यपि प्रस्तुत की विभिन्न विशेषताओं को अप्रस्तुत की विभिन्न विशेषताओं से सन्तुलित किया जाता है परन्तु पाठक का ध्यान अलग-अलग अंशों पर ही केन्द्रित रहता है। वह अप्रस्तुत की समग्र अनुभूति मे प्रस्तुत की समग्रता के साथ एकरूप नहीं हो पाता। जिन प्रसंगों मे अप्रस्तुत के विभिन्न अंग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों

१. रश्मिरथी, पृष्ठ ८।

से सम्बन्धित होते हैं या उनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता, उन वर्णनों में तो अप्रस्तुत की समग्र अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। तुलसी का मानस-रूपक इसी प्रकार का अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत करता है। कुछ प्रकरणों मे अप्रस्तुत विधान की समग्र अनुभूति तो होती है परन्तु वह अनुभूति ऐसी होती है कि जिसमें प्रस्तुत तो तिरोहित हो जाता है और अप्रस्तुत का बिम्ब ही प्रमुख रहता है। अधिकांश छायावादी काव्य इसी प्रकार का है। विषमतामूलक अलंकारों का स्वरूप तो और भी अधिक बौद्धिक रहा करता है। अप्रस्तुत विधान वहीं स्वाभाविक होता है जहाँ कवि उसको इस प्रकार प्रस्तुत करे कि वह प्रस्तुत की अपेक्षा अपनी महत्ता स्थापित न करके अपने प्रभाव से पाठक को प्रस्तुत में तल्लीन कर दे।

परन्तु जहाँ कहीं वर्णन अप्रस्तुत विधान से विहीन होगा वहाँ पाठक के समक्ष केवल प्रस्तुत ही प्रस्तुत रहेगा। अप्रस्तुत में मन अधिक व्यस्त न होगी। इसमे सन्देह नहीं कि कुशल कवि अप्रस्तुत का प्रयोग प्रस्तुत की अनुभूति को तीव्रतर बनाने के लिये करता है। परन्तु जो कवि अप्रस्तुत के बिना ही सीधे-सीधे प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार करे कि वह प्रस्तुत की पूर्ण अनुभूति कराने में समर्थ हो तो उस कवि की कुशलता और भी अधिक सराहनीय होगी।

निर्व्याजता स्वभावोक्ति शैली का प्रमुख गुण है। वस्तुत यही वह गुण है जो स्वभावोक्ति काव्य को अन्य काव्यों की तुलना में एकदम स्पष्टत समझने में सहायक होता है। यह शब्द दण्डी के काव्यादर्श की हृदयगम टीका मे प्रयुक्त 'अव्याजेन' शब्द के आधार पर प्रयुक्त किया गया है। जैसा कि कहा जा चुका है दण्डी स्वभावोक्ति के वर्णन में स्वभावोक्ति के कोई बहुत उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं परन्तु उन्होंने स्वभावोक्ति के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व निर्व्याजता की स्थापना की है। कुन्तक ने अनुभूत निर्व्याज-वर्णन के स्वाभाविक सौन्दर्य को न केवल सिद्धान्त रूप में ही स्वीकार किया है वरन् वक्रोक्ति के उदाहरण रूप अनेक ऐसे निर्व्याज-वर्णन प्रस्तुत किये हैं जो स्वभावोक्ति-शैली में ही हैं। इन सभी उदाहरणो की एक सूची अगले पृष्ठ पर दी जा रही है।

निर्व्याजता स्वभावोक्ति शैली का प्रमुखतम तत्त्व है। हिन्दी काव्य मे कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे।

'साकेत' में केकय देश से लौटकर आते हुए भरत, नगर की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें चारो ओर एक गहरी उदासी का वातावरण दिखाई पड़ता है—

फिर रहीं गायें रँभाती दूर, — —
भागते हैं इलथ शिखण्ड मयूर। (पूरक)

पार्श्व से यह खिसकती सी आप
जा रही सरयू बही चुपचाप
चल रहीं नावें न उसमें तैर
लोग करते हैं न तट पर सैर
कुछ न कुछ विचरित हुआ विभ्राट्
विप्र पंक्ति विहीन हैं सब घाट
क्या हुआ सन्ध्यार्घ्य का वह ठाठ ?
सुन नहीं पड़ता कहीं श्रुति पाठ ।[1]

किसी भी प्रकार के अप्रस्तुत-विधान की योजना न करके कवि ने नगर की स्थिति का जैसा वर्णन किया है वह हमारे हृदय में एकदम अभीष्ट भाव की जागृति करता है। नगर की उदासी की सीधी अनुभूति होती है। वर्णन एकदम यथातथ्य है। इसी प्रकार अप्रस्तुत-विधान से एकदम विहीन प्रकृति-चित्रण का एक उदाहरण भी महाकाव्य से प्रस्तुत है—

गुनगुनाने में लगी थी गान यह अनजान
प्राकृतिक प्रिय दृश्य बरबस खींचते थे ध्यान
किसी झुरमुट से निकलकर शशक जाते भाग
दूर मृग के झुण्ड करते थे जुगाली जाग
नवल अपने शावकों की उछल कूद ललाम
देखते थे मौन मृगकुल हर्ष से उद्दाम
वनचरों का किटकिटाना भी लिये आह्लाद
प्रतिध्वनित वन दूर तक ही गूंजता था नाद
× × ×
बलियां ककड़ी मतीरों की रही थीं नाच
पीत फूलों की मृदुलता से रही थीं राच
कृषक-बाल उड़ा रहे थे पक्षियों को घूम
स्वर निराला गूंजता था व्योम का उर चूम ।[2]

दोनों ही उदाहरण स्वभावोक्ति-शैली में किये गये प्रकृति-चित्रण के उदाहरण हैं। अनुभूति-तत्त्व से पूर्ण ये उदाहरण किसी भी अलंकृत शैली के उत्कृष्ट प्रकृति-चित्रणों के उदाहरण हैं। गार्हस्थिक वातावरण में निर्व्याज-शैली से कथनों में जो आकर्षण उत्पन्न होता है उसका भी एक उत्कृष्ट उदाहरण 'मीरां' में मिलता है। प्रसंग मीरां के माता-पिता के दाम्पत्य-वार्तालाप से सम्बन्धित

---

१. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ १८५
२. वही, पृष्ठ ८२

है। 'मीरां' की माँ दिन-भर के थके सोये पति के पास शैय्या पर जाकर लेट जाती है। उसके लेटने और शैय्या के हिलने से पति की आँख खुल जाती है। इसके उपरान्त उनका वार्तालाप इस प्रकार आगे बढ़ता है—

स्वान्त मधुर विस्मृत वाणी मे
स्वर अनुराग भरे वे बोले
पड़े न पायल-स्वर श्रवणों में
कब आई तुम हौले हौले ?
तीव्र व्यंग मे यों वह बोली
कैसे पता चले आने का ?
पास नहीं जब रहा आज कुछ
प्रथम मिलन मे जो पाने का
याद आज भी होंगी बातें
जिस दिन एकाकी कोने मे
जाग रहे थे रात रात भर
जीवन के मधुमय गौने मे
जरा प्रतीक्षा के वे पल ही
प्रहर बन गये थे अन्यल के
थी न दृगों मे नींद सुनहले
सपने भी विस्तृत थे मन मे।[१]

उपालम्भ मे किसी प्रकार भी किसी बाह्य-तत्त्व का समावेश नहीं। पति के ऊपर सीधा और करारा व्यंग है। मीरां के विषय मे बातचीत होती है। पति को चिन्ताग्रस्त देखकर पत्नी कहती है—

बोली फिर उपहास व्यंग मे
क्यों आकर्षण चला गया क्या ?
क्षण प्रतिक्षण अब तन परिवर्तित
शेष रह गया और नया क्या।
मेरे पीहर मे जाकर जब
सखियों पर तल्लीन हुए तुम
अरे तभी मैं जान गई थी
विचलित पथ से हीन हुए तुम।
मण्डप नीचे भी बोले, यदि
मिलें दासियाँ मुझको अगणित

---

१ मीरां द्विरेफ, पृष्ठ ८५

तो मैं शकुन मागलिक देखूँ
नवल वधू को सुख देऊँ नित
तुम मेरे पीहर-घर भर को
सभी तरह से चाट गये हो।
वर तो कितने ही देखे पर
तुम चक्की के पाट हुए हो।'[1]

इसके उपरान्त वार्तालाप पुन 'मीरां' की चिन्ता की ओर मुड जाता है। मीरां का यह प्रसग एकदम निर्व्याज-शैली मे लिखा गया है। यह स्वभावोक्ति-शैली का एक समृद्ध उदाहरण है। 'ऊर्म्मिला' से एक और उदाहरण प्रस्तुत है। प्रसग है लका-विजय के उपरान्त पुष्पक-विमान मे बैठे सीता और लक्ष्मण का वार्तालाप। यान उडता जा रहा है और लक्ष्मण सीता के सामने किसी गम्भीर विचार मे मग्न बैठे हुए हैं। सीता प्रश्न करके उस गम्भीर मौन को तोडती हैं—

'देवर!' 'हाँ कल्याणि!' "कहो
क्या बात उठ रही है मन मे?
अब तो यह महदन्तर घटता
जाता है प्रति क्षण-क्षण मे"
सुन सीता के वचन सुलक्ष्मण
इकटक उन्हें निहार रहे
चिन्तन नींद भरे नयनों मे
प्रकपित बात विचार रहे।
"क्या देखो हो मुझको देवर
यों तुम सोए-सोए से?
सतत जागरण थकित लगो हो
तुम तो खोये-खोये स
गुडाकेश कुछ बोलो तो जी
यों न निहारो ठगे-ठगे,
कहो हो रहे हैं क्यों ये दृग
कुछ सोये, कुछ जगे-जगे?
क्या हिय मे आ बैठी कोई
सुघड नींद की ठकुरानी?
क्या लङ्का के किसी झरोखे
लगन रह गई अरुझानी?

---

[1] मीरां, द्विरेफ़, पृष्ठ ३०-३१

अथवा क्या कोई वनवाली
कुछ टोना कर गई कहो ?
किसकी यह सस्मृति नयनों में
अलस चाह भर गई अहो ?"
"भाभी" यों थी लक्ष्मण बोले,
विहँस मधुर वचनावलियाँ
"भाभी यदि ऐसी ही भोली
होतीं ये विदेह ललियाँ
यदि यों सहज छोड़ देतीं ये
रघुकुलजों का हिय आसन
तो क्यों आज लंक में होता
बन्धु विभीषण का शासन ?
बाँध दाशरथियों को रखतीं
हैं विदेह की नन्दिनियाँ
बड़ी चतुर हो तुम मैथिलियाँ
हो तुम सब मायाविनियाँ।"[१]

सीता पुनः शूर्पणखा का प्रसंग छेड़ती हैं, उत्तर-प्रत्युत्तर के उपरान्त ऊर्म्मिला-विषयक मूल प्रसंग आता है और सीता १४ वर्षों में रही लक्ष्मण की मानसिक स्थितियों के विषय में प्रश्न करती हैं। हास्यपूर्ण वातावरण पूर्णतः मौन और गम्भीर हो उठता है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"बहन बहन सब मिल बैठी हैं
वन देरानी—जेठानी,
अब औरों की गुजर कहाँ ? क्यों
है न ठीक भाभी रानी ?"
"देख तुम्हारी विकट साधना
मुझे हो गया था भ्रम जी
पर मन-मन फोड़ा करते थे
तुम लड्डू यह अब समझी
सच बोलो क्या करते हो तुम
सदा ऊर्म्मिला का ही ध्यान ?
योग-साधना में भी क्या है
सदा ऊर्म्मिला का प्रणिधान ?"

---

१. ऊर्म्मिला, नवीन, पृष्ठ ६६३-६४

"भाभी तनिक राम को पूछो
क्या हो जाता है मन में
कैसे सीते-सीते करते
विचरे थे वे वन-वन में।
× × ×
उसका तो विस्मरण देवि है
आत्म-विमोहित हो जाना
श्री ऊर्म्मिला रूप विस्मृत है
मोह नींद में सो जाना"
"तो क्या वरस लालसा लालन
तुम्हें सताती तनिक नहीं ?"
"हाँ, नाहीं मैं दे सकता हूँ
इसका उत्तर क्षणिक कहीं ?
स्वयं विदग्धा हो तुम भाभी
तुम कर चुकीं तत्त्व दर्शन
तुम सब कुछ जानो हो कैसा
होता है हिय सघर्षण
कैसे कहूँ कि रंच नहीं है
हिय में वरस चाह अवशेष ?
किन्तु चाह में दाह नहीं है,
नहीं अशांति भ्रान्ति का क्लेश ।[1]

इस सम्पूर्ण प्रसंग में कहीं-कहीं एक-दो शब्दों को छोड़कर आरोपण कहीं भी नहीं है। कवि ने वार्तालाप को सीधे-सीधे बिना किसी अलंकरण और अप्रस्तुत-विधान के ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर दिया है। यह स्वभावोक्ति-शैली के तत्त्व निर्व्याजता का अच्छा उदाहरण है।

निर्व्याजता और निरलङ्कृतता में अन्तर यह है कि निरलङ्कृतता शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सर्वथा निषेध है जबकि निर्व्याजता का मुख्य रूप से उस अप्रस्तुत-विधान की अनुपस्थिति है जो तुलना या वैषम्य के लिये लाये जाते हैं। निरलङ्कृतता के उपरान्त निर्व्याजता पर बल देने का कारण यह है कि स्वभावोक्ति-शैली के लिये निर्व्याजता परमावश्यक तत्त्व है। यदि काव्य में निर्व्याज-वर्णन है तो बिना प्रयत्न के कहीं अनुप्रासादि आ जाने पर भी शैली स्वभावोक्ति-शैली ही होगी, परन्तु यदि वर्णन अप्रस्तुत-विधान से युक्त है तो वह निरलकृत तो हो ही नहीं सकता, साथ ही स्वभावोक्ति के सीमा-क्षेत्र के बाहर की वस्तु है।

१. ऊर्म्मिला, नवीन, पृष्ठ ३६२ ३६६

३ लक्षित-बिम्ब

शास्त्र सामान्य का विवेचन करता है परन्तु काव्य पाठक के सामने विशिष्ट को ही प्रस्तुत करता है। सामान्य का वाचन काव्य की शैली नहीं है। काव्य की भाषा विशिष्ट का ऐसा बिम्ब प्रस्तुत करती है कि वह विशिष्ट बिम्ब साधारणीकृत होकर सामान्य का परिचय देता है। ये बिम्ब काव्य के शाश्वत गुण हैं। काव्य की भाषा, छन्द और अलकार तथा विषय मे कालानुसार परिवर्तन होता रहता है परन्तु हर काल और हर देश के काव्य में बिम्बो की स्थिति अनिवार्य है। ये बिम्ब दो प्रकार के होते हैं—लक्षित बिम्ब और उपलक्षित बिम्ब। जहाँ कही कवि का वर्णन इस प्रकार होता है कि वर्ण्य-विषय का सजीव चित्र नेत्रो के समक्ष प्रस्तुत हो जाय वहाँ लक्षित चित्र होता है। परन्तु जहाँ वर्ण्य विषय विचार-प्रधान या अमूर्त हो वहाँ वर्णन के कारण अप्रस्तुत-विधान का बिम्ब प्रस्तुत होने पर उपलक्षित बिम्ब की निर्मिति होती है। कालरिज की भाषा मे प्राथमिक कल्पना से निर्मित बिम्ब लक्षित बिम्ब हैं और द्वितीय कल्पना (secondary imagination) से निर्मित बिम्ब उपलक्षित। उदाहरणार्थ पद्माकर का सवैया—नन नचाय कही मुसकाय लला फिरि खेलन आइयो होरी—मे एक लक्षित बिम्ब है और 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग मे पृष्ठ १००-१०१ पर सौन्दर्य के बारे मे जो कुछ कहा गया है वह उपलक्षित बिम्ब है।

जहाँ तक स्वभावोक्ति शैली का प्रश्न है उसमे अप्रस्तुत-विधान का हम सर्वथा निषेध कर चुके हैं, अत उपलक्षित बिम्बो के लिये यहाँ कोई अवकाश नही है। परन्तु सजीव लक्षित बिम्बो को प्रस्तुत करना स्वभावोक्ति-शैली का एक विशिष्ट गुण है। लक्षित बिम्ब की सृष्टि तभी होती है जब कवि गहरी अनुभूति के धरातल से लिख रहा होता है। इन बिम्बों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर हम इस विशेषता को स्पष्ट करेंगे। सवप्रथम बिम्ब 'द्विरेफ' कृत 'मीराँ' महाकाव्य मे मीराँ के महाप्रयाण के समय का बिम्ब है

> भावों की सरिता मे डूबी
> ले शान्त हृदय मे सुख नवीन
> वह पथ पर बढ़ती जाती थी
> धीरे-धीरे सुध-बुध विहीन
> झकृत चल तारों पर नर्तन
> करती थीं अगुलियाँ प्रवीण
> गायन लय में भूली खोयी
> थी प्रतिपल वह वीणा धुरीण

नभ ओर लगे थे दृग नीरव
यह कौन कहे क्या रहे देख ?
पर उर मे उठते भावों का
अकित था उनमें स्पष्ट लेख
पढ़-पढ़ कर था नभ शून्य, मौन
गायिका दृगों की भाँति शान्त
टिमटिमा रहे दो दृग तारे
ज्योतिर्विहीन थे विवश भ्रान्त
झिलमिला रही थी कसक मूक
छाया था आगे अन्धकार
दो नयन इधर, दो नयन उधर
चारों धूमिल, चिन्तित अपार
गा रहा शून्य, सुन रहा शून्य
दोनों बेसुध चेतना हीन
संगीत शून्य मे से उठकर
हो रहा शून्य मे था विलीन ।[1]

प्रथम पंक्ति मे 'भावों की सरिता मे डूबी' एक अप्रस्तुत योजना से युक्त पंक्ति है। यह पंक्ति सरिता का बिम्ब प्रस्तुत न कर भावमग्न मीरां के लक्षित-बिम्ब को ही पुष्ट करती है। प्रथमार्द्ध मे मीरां की वीणा पर चलती अगुलियाँ व आकाश की ओर उठे हुए नेत्रो के साथ आगे बढने की भगिमा अङ्कित है। उत्तरार्द्ध मे प्रकृति के वातावरण का अकन है। अन्तिम चार पंक्तियाँ वातावरण की गम्भीरता का उदात्त अकन हैं। उसके गायन पर मुग्ध होकर उसके पीछे चलनेवाले मृग इस बिम्ब को और भी अधिक सुन्दर बनाते हैं

यह पूर्व भाँति, था उसका बस
अपने गायन में ध्यान एक
रज मे बिखरी थीं इधर उधर
दिनकर की स्वर्ण-किरण अनेक
पीछे-पीछे चलते जाते
थे हरिण दम्पती मुग्ध-मौन
वे भूल रहे थे चौकड़ियाँ
कुछ ज्ञात न था हम कहाँ कौन ?[2]

---

१ मीरां परमेश्वरी सहाय द्विरेफ पृष्ठ २२२
२ वही पृष्ठ २२६

मीरां अपने पथ पर और आगे बढ़ती जाती है। मार्ग में कुएँ पर जल भरती नवयौवनाएँ जलती हुई दोपहरी में भी एक तृषित व्यक्ति को इसलिये जलदान नहीं करतीं कि वह अछूत है। उस व्यक्ति की स्वाभाविक अवस्था का गतिशील बिम्ब में अंकन देखिये :

> वट की शाखा पर छाया में
> थे देख रहे बैठे मयूर
> मानो उनके दृग कहते थे
> युवती इतनी मत बनो क्रूर।
> कीचड़ से उठकर द्रुतगति से
> उस राही पर ग्रामीण श्वान
> कुछ झपटा, भौंका, शान्त हुआ
> उसको कुछ भी था नहीं ध्यान।
> उस वट की शीतल छाया में
> लेटे बैठे ग्रामीण ढोर
> चित्रित से मौन बने अपलक
> बस देख रहे थे उसी ओर
> डग बढ़े नहीं चक्कर आया
> वह नीचा जन काला कुरूप
> मूर्छित होकर गिर पड़ा वहीं
> सचमुच भीषण थी ज्येष्ठ धूप।[1]

इस दृष्टि से 'अङ्गराज' का एक प्रसंग बड़ा ही श्रेष्ठ उदाहरण है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य अर्जुन की अपेक्षा कर्ण के चरित्र को महान् सिद्ध करना है अतः *महाभारत* में समय कर्ण के विरुद्ध अर्जुन की वीरता को महत्त्व न देकर कृष्ण की रथ-सचालन-चातुरी को महत्त्व दिया है और उसका ऐसा बिम्ब प्रस्तुत किया है जो अत्यन्त सजीव है :

> देवगण देख रण-दृश्य कहते थे देखो
> वासुदेव कैसा रथयान को चलाते हैं।
> ज्यों ही इस ओर मुक्त होते कर्ण बाण त्यों ही
> यान को हटा के लक्ष्य निष्फल बनाते हैं।
> चक्रयान चालन की चातुरी से चक्रधर
> आज विषमस्थ सव्यसाची को बचाते हैं।

---

१. मीरां, परमेश्वरी सहाय द्विरेफ, पृ० २३०

पार्थ के शरों से नहीं, कृष्ण-नेत्र सायकों से
शत्रुगण मुग्ध और विद्ध हुए जाते हैं।[1]

कर्ण अर्जुन पर क्रुद्ध होकर एक अत्यन्त भयंकर बाण का संधान करके उसके सर को उड़ाने का उपक्रम करता है परन्तु कृष्ण अपनी यान-चालन-चातुरी से व्यर्थ कर देते हैं :

अवलोक उसे हरि ने यथार्थ। तत्काल किया है कूट कार्य।
यानाश्व कर दिये धरालग्न। हो गया सर्प-शर लक्ष्य-भग्न।[2]

'कामायनी' एक ऐसा अलंकृत काव्य है जो उपलक्षित बिम्बों से भरा हुआ है, परन्तु इस काव्य मे भी ऐसे अनेक लक्षित बिम्ब उपलब्ध होते हैं जो प्रकरण को स्वाभाविक बनाते हैं। 'आनन्द' सर्ग मे मानस-तट पर ध्यान-मग्न श्रद्धा और मनु का लक्षित बिम्ब देखिये :

खगकुल किलकार रहे थे
कलहंस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थीं तानें अभिनव
मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निर्मल मानस तट मे
सुमनों की अंजलि भर कर
श्रद्धा थी खड़ी निकट में
श्रद्धा ने सुमन बिखेरा
शत-शत मधुपों का गुंजन
भर उठा मनोहर नभ में
मनु तन्मय बैठे उन्मन।[3]

संक्षिप्त कैनवास पर श्रद्धा की पुष्प बिखेरती भंगिमा का यह एक ऐसा चित्र है जो किसी भी चित्रकार की तूलिका से सरलता से चित्रपट पर अंकित हो सकता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अप्रस्तुत-विधान से उत्पन्न उपलक्षित चित्रों के प्रभाव को आज की अमूर्त चित्र-कला भी अंकित नहीं कर सकती परन्तु मूर्त चित्रकला के लिये उसका अंकन अत्यन्त ही कठिन है। चित्र मे श्लेष को उस सरलता के साथ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जिस सरलता के साथ काव्य में। यही कारण है कि लक्षित बिम्बो को मूर्त चित्र-कला बड़े ही सरल

---

१. अंगराज, आनन्द कुमार
२. वही, पृष्ठ
३. कामायनी, पृष्ठ २८४

ढग से प्रस्तुत करती है। 'कामायनी' में "····मां फिर एक किलक दूरागत ··"[1] तथा "और एक फिर व्याकुल चुम्बन ··"[2]—आदि कुछ अन्य लक्षित बिम्बो की ओर सकेत किया जा सकता है। 'कामायनी' की भाँति ही दिनकर का 'उर्वशी' महाकाव्य भी उपलक्षित बिम्बो की शृखलाओ से भरपूर है परन्तु इतना अलकृत काव्य लिखनेवाला कवि भी सुन्दर लक्षित बिम्ब उपस्थित कर सकता है। दिनकर मूलत काव्य की स्वाभाविकता को बनाये रखनेवाले कवि हैं परन्तु 'उर्वशी' मे उपलक्षित बिम्ब योजना बडी ही प्रचुरता के साथ उपलब्ध होती है। इस अप्रस्तुत बिम्ब-प्रधान कृति में भी अनेक सुन्दर लक्षित बिम्ब खोजे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं

१. पुरूरवा के ध्यान मे मग्न उर्वशी का बिम्ब—

> सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी खोयी सी
> तन से जगी, स्वप्न के कुजों में मन से सोयी सी
> खडी-खडी अनमनी तोडती हुई कुसुम पखडियाँ
> किसी ध्यान मे पडी गँवा देती है घडियों पर घडियाँ
> दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नहीं होता है
> आया गया कौन इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।[3]

२ पुरूरवा-उर्वशी की परिरम्भण-मुद्रा—

> तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिगन मे
> मन से किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो?
> बरसा कर पीयूष प्रेम का आँखों से आँखों मे
> मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो?
> कभी-कभी लगता है तुमसे जो कुछ भी कहती हूँ
> आशय उसका नहीं शब्द केवल मेरे सुनते हो।[4]

ये दोनों ही बिम्ब शारीरिक मुद्राओ का अकन करते हैं। दोनो ही उदाहरणो मे बिम्बो की रेखाएँ भी बहुत स्पष्ट है। प्रसाद और दिनकर अधिकाशत उपलक्षित बिम्बो के कवि हैं। परन्तु लक्षित बिम्बों को उपस्थित करने की दृष्टि से सबसे अधिक धनी कलाकार हैं श्री मैथिलीशरण गुप्त। इनके काव्य में हमें इस प्रकार के सर्वाधिक बिम्ब मिलेंगे। 'साकेत' से माण्डवी का बिम्ब उपस्थित है·

---

१. कामायनी, पृष्ठ १७९
२. वही, पृष्ठ १३६
३. उर्वशी, दिनकर, पृष्ठ १४
४. वही, पृष्ठ ३७

वह सोने का थाल लिये थी
उस पर पत्तल छायी थी
अपने प्रभु के लिये पुजारिन
फलाहार सज लाई थी
तनिक ठिठक कुछ मुड कर दायें
देख अजिर मे उनकी ओर
शीश झुका कर चली गई वह
मन्दिर मे निज हृदय हिलोर।
हाथ बढ़ाकर रखा उसने
पादपीठ के सम्मुख थाल
टेका फिर घुटनों के बल ही
द्वार देहली पर निज भाल
टपक पड़ीं उसकी आँखों से
बडी-बडी बूँदें दो चार
दूनी दमक उठीं रत्नों की
किरणें उनमे डुबकी मार।[1]

लक्षित बिम्बों के सभी उदाहरण स्वभावोक्ति-शैली के उदाहरण हैं। इस शैली का यह गुण इसे अलंकृत शैली से अधिक श्रेष्ठता और महत्त्व प्रदान करता है। कारण यह है कि लक्षित बिम्ब उपलक्षित बिम्बो की अपेक्षा इस कारण अधिक प्रभावी होते हैं कि वे वस्तुतत्त्व के साथ प्रत्यक्षत हमारा ऐन्द्रिय सम्बन्ध जोडते हैं जबकि उपलक्षित बिम्ब हमे उससे हटाकर दूर कल्पना-लोक मे लेजाते हैं। 'सिन्धु सेज पर धरा वधू' को पढकर पाठक जल के मध्य निकली हुई भूमि से उतनी निकटता अनुभव नही कर पाता जितना कि वह स्वय को एक मुग्धा नायिका के पास पाता है। परन्तु उपर्युक्त सभी उदाहरणों को पढकर हम स्वय को उर्वशी, उर्वशी-पुरुरवा या माण्डवी के निकट अधिक पाते हैं। अपने इसी गुण के कारण ये बिम्ब स्वभावोक्ति शैली की स्वाभाविकता को बनाये रखते हैं।

४ सरलता

सरलता का तात्पर्य है बोधगम्यता। भारी-भरकम रूप से अलंकृत, प्रतीकात्मक और पाण्डित्यपूर्ण काव्य-शैली का अपना महत्त्व है। परन्तु स्वभावोक्ति-शैली का वास्तविक अर्थ है सर्वसाधारण की समझ मे आ सकनेवाली काव्य शैली।

---

१. साकेत, पृष्ठ ३२३

स्वभावोक्ति-शैली में वैयक्तिकता कम और सामाजिकता अधिक होती है। उसमे लोक-पक्ष पर ही अधिक ध्यान रहता है अत वह दुरूहता से दूर रहती है। उसमे उन्ही शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो नित्य प्रचलित जन-भाषा में प्रयुक्त होते हैं। क्लिष्ट और अप्रचलित पर्यायो के प्रयोग से वह दूर रहती है। साथ ही व्याकरणिक शुद्धता और उपयुक्त वाक्य-गठन उसमें स्पष्टता लाते हैं। स्पष्टता के साथ-साथ उसमे किसी भी प्रकार की सन्दिग्धता भी नहीं रहा करती। काव्य मे सन्दिग्धता वहाँ आती है जहाँ या तो किसी अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग किया गया हो या फिर किसी कवि की अनुभूति ही अस्पष्ट हो। अनुभूति की अस्पष्टता के कारण उत्पन्न दुरूहता का उदाहरण रहस्यवादी काव्य है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि स्वभावोक्ति-शैली में रहस्यवादी काव्य की रचना नही हो सकती क्योकि पन्त का 'मौन-निमन्त्रण' और निराला की 'तुम और मैं' की शैली बहुत-कुछ स्वभावोक्ति-शैली के तत्त्वो से युक्त है, परन्तु सामान्य रूप से रहस्यवादी काव्य की रचना प्रतीकात्मक शैली मे ही होती है। महादेवी वर्मा की कविताएँ स्वभावोक्ति-शैली मे न होकर प्रतीकात्मक और अलंकृत शैली मे हैं।

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि स्वभावोक्ति-शैली का काव्य ऐसा काव्य होता है जिसे पढ़ने मे पाठक को कम-से कम श्रम करना पडे और पाठक उसे पढ़ने के लिये धन भी व्यय कर सके। ऐसा तभी हो सकता है जब काव्य मे प्रसादत्व होगा। प्रसादत्व होने का यह तात्पर्य कभी भी नही है कि वह काव्य माधुर्य और ओज से रहित होता है। ओज और माधुर्य से युक्त काव्य मे भी प्रसादत्व हो सकता है और होता है। ओज और माधुर्य स्वभावोक्ति-शैली के विरोधी नहीं हैं वरन् प्रसादत्व उसकी पहली शर्त है।

स्वभावोक्ति-शैली मे सरलता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। प्रथम उदाहरण है 'ऊर्म्मिला' मे शान्ता और ऊर्म्मिला का पारस्परिक वार्तालाप। ऊर्म्मिला द्वारा बनाये चित्र के विषय मे होनेवाले वार्तालाप के उपरान्त उनके चरणो म श्रद्धावनत शत्रुघ्न को बाहर से आती हुई शान्ता देखकर कहती है —

> बोलीं जाने क्या जादू है इन बालाओं मे मिथिला की ?
> रघुकुल के लालों को क्षण मे बाँध, बुद्धि उनकी शिथिला की।[1]

इसके उपरान्त का वार्तालाप इस प्रकार है

> श्री ऊर्म्मिला उमँग कर बोलीं—ननदी जीजी तुम हो भोली,
> पहिले से तो तुम आचार्यों के सँग करती रहीं ठिठोली।

---

१. ऊर्म्मिला, नवीन, पृष्ठ १०६

ब्राह्मण ये क्या जाने ? जादू क्या होता है ? कैसे चलता ?
वे तो तभी समझ पाते हैं, जब वह सहसा उनको छलता ?
यज्ञ कराने के मिस आये भोले एक ब्राह्मण कोरे,
यहाँ दाशरथिनी ने उनके ऊपर डाले अपने डोरे,
अब तो मेरी जीजी को बस जन्तर-मन्तर सूझ रहा है
क्यों है ठीक बात मेरी यह ? लो कुछ अनुचित नहीं कहा है
"दुलहिन रानी तत्त्व ज्ञानी, श्री विदेह की सब कन्याएँ
कैसे सीख सकीं चतुराई बोलो तो यह सब धन्याएँ
क्या विदेह रानी ने कोई पाल रखा है अहो चतुर नर ?
जो इन सबको कुशल कला की दीक्षा देता रहा निरन्तर ?
"शान्ते जीजी, विदेह के घर द्वार बुहारे है चतुराई
अपनी चिन्ता करो न पूछो यह कि चतुरता कैसे पाई
कई वेदविद् बैठे रहते उनकी द्वार देहली पर नित
ननदोई भी वहीं न पहुँचें होकर तुमसे कहीं उपेक्षित ?[1]

इस सम्पूर्ण प्रसंग में एक भी पंक्ति और एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसे विलष्ट या दुरूह कह सकें या जो जन-साधारण की भाषा से दूर हो। सीधा-सादा वाक्य-गठन और प्रसादत्व इस काव्यखण्ड की अपनी विशेषता है। यही स्वभावोक्ति शैली में सरलता का स्वरूप है। एक अन्य उदाहरण महाकाव्य 'नूरजहाँ' से प्रस्तुत है :

जिनको मेरे पूज्य श्वसुर ने गिरने से था बचा लिया।
वे सहायता हर प्रकार की आसमान तक उठा दिया।
जो उनके सम्मुख दम भरते थे उनके एहसानों का।
ताँता सदा बना रहता था घर में जिन महमानों का।
जिनका तुमको बड़ा गर्व था, जिनका बड़ा भरोसा था
जिनके लिये हमारे घर में रहता थाल परोसा था
वे कृतघ्न मर गये कहाँ ? जो नहीं झाँकने को आते
अकस्मात् मिल जाने पर हैं कैसे आँख बचा जाते
मतलब की दुनियाँ है सारी, नहीं किसी का कोई है
आड़े कौन कहाँ आता है किस्मत ही जब सोई है।[2]

यह उदाहरण भी एकदम बोधगम्य और स्पष्ट है। किसी भी प्रकार की सांकेतिकता या प्रतीकात्मकता का समावेश इसमें नहीं है। प्रसादत्व का पूर्ण

---

1. ऊर्मिला, बालकृष्ण शर्मा नवीन, पृष्ठ
2. नूरजहाँ, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', पृष्ठ ४

सदभाव है। प्रथम उदाहरण मे माधुर्य भी साथ ही है। ये दोनो ही प्रसग स्वभावोक्ति शैली मे सरलता के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। विपरीत उदाहरण के रूप में हम महादेवी का यह पद ले सकते हैं —

निशा को धो देता राकेश
चाँदनी मे जब अलकें खोल
मधुप से कहता था मधुमास
बता दो मधु मदिरा का मोल।[1]

दिनकर ने अपनी पुस्तक 'शुद्ध कविता की खोज' मे इसको दुरूहता से युक्त माना है और यह दुरूहता भी सन्दिग्धता के कारण नही, अस्पष्टता के कारण है। साथ ही इसमे जो दूरान्वय दोष है वह इसको क्लिष्ट तथा श्रम-साध्य भी बनाता है। प्रतीकात्मक शैली तो यह है ही, साथ ही इसमें स्वभावोक्ति-शैली का सरलता नामक वैशिष्ट्य भी अनुपस्थित है।

५ इतिवृत्तात्मकता

इतिवृत्तात्मकता का अर्थ है कथा-वाचन की शक्ति अर्थात् इतिवृत्त को उपस्थित करने की शक्ति। यह तो नही कहा जा सकता कि साकेतिक शैली मे इतिवृत्त को प्रस्तुत ही नही किया जा सकता परन्तु प्रबन्ध-काव्य मे विश्राम-स्थलो पर ही अधिकाशत अलकृत शैली का ही उपयोग किया जाता है। इतिवृत्त को प्रस्तुत करने का जो सामर्थ्य स्वभावोक्ति-शैली मे है वह अलकृत या सकेतात्मक शैली में नही है। वास्तविकता यह है कि इतिवृत्त प्रस्तुत करने का गुण स्वभावोक्ति शैली का ही गुण है। मोटे रूप म हम दो कवियो का उदाहरण लेते हैं—जयशकर प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त। जयशकर प्रसाद मुख्य रूप से साकेतिक और प्रतीकात्मक शैली के कवि माने जाते हैं जबकि मैथिलीशरण गुप्त इतिवृत्तात्मक शैली के। अत जहाँ कही प्रसाद के सामने इतिवृत्त को प्रस्तुत करने का प्रश्न उठता है उनकी प्रतिमा कुण्ठित हो उठती है, परन्तु गुप्त जी की प्रतिमा वहाँ कुण्ठित होती है जहाँ उनको प्रतीक शैली अपनानी पडती है। इतिवृत्त प्रस्तुत करने की सामर्थ्य होने के कारण ही गुप्त जी की शैली स्वभावोक्ति शैली के अधिक निकट है जबकि प्रसाद की शैली उससे एकदम दूर है। प्रबन्ध-काव्यो मे इतिवृत्त की दृष्टि से इस शैली का महत्त्वपूर्ण उपयोग किया जाता है।

प्रबन्ध-काव्यो मे विश्राम-स्थल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुआ करते हैं। इन स्थलो पर कवि को अपने कौशल के प्रदर्शन का अवकाश मिला करता है और यहीं वह अपने कवित्व की सिद्धि भी करता है। दो विश्राम-स्थलो को जोडने का कार्य इतिवृत्त करता है। दो विश्राम-स्थलो के मध्य का काव्य कथा को

१ 'सधिनी', महादेवी वर्मा, पृष्ठ ३१

आगे बढाने का कार्य करता है। परन्तु कथा को आगे बढ़ाने की धुन मे ऐसे अनेक स्थल कवित्वहीन हो जाते हैं। इतिवृत्तात्मकता काव्य की ऐसी शक्ति है जो इतिवृत्त को कवित्व के साथ उपस्थित करती है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि स्वभावोक्ति शैली ही वह-शैली है जो इतिवृत्त को कवित्व के साथ प्रस्तुत कर सकती है।

परन्तु महाकाव्य और प्रबन्ध-काव्य मे अनेक छोटी-छोटी कथाएँ भी उपस्थित करनी पडती हैं। इन कथाओ को कवि कितने सक्षेप मे प्रस्तुत करता है यह इतिवृत्तात्मक शक्ति पर ही निर्भर करता है। छोटी-छोटी उपकथाओ मे इस शक्ति का चमत्कार देखा जा सकता है। रागेय राघव कृत 'मेधावी' काव्य मे एक छोटी-सी उपकथा को प्रस्तुत करने मे स्वभावोक्ति-शैली का वैशिष्ट्य व्यक्त होता है :

एक नर की भुज प्रलम्बित
घेर करती शक्ति
एक नारी रुद्ध, करती
यत्न, होने मुक्त !

मौन शैली से कभी, वह विकल उसका नाद
लडखड़ाता सा गुंजाता पुरुष का उन्माद
और नर का तृप्त यौवन आज उसको छोड़
वासना का वेग अपना अब न सकता तोड़।

\+ \+ \+

दूर एक अहेर करते विकट नर के कान—
में प्रतिध्वनि शब्द करता, विकल करता प्राण
कूद कर चट्टान से वह दौडता सावेग
औ' गुफा के द्वार पर अब ठिठकता है देख
एक पल में ही अहेरी का उठा वह हाथ
दण्ड उसका वेग से कर उठा घोर प्रहार
घोर हा-हाकार करता गिर गया आतक
रक्त की धारा बही लेकर तडपता रंग

और भू पर गिरी नारी
के सुमांसल हाथ
उठ गये उल्लास से
स्वागत भरे मृदुलास

\+ \+ \+

छोड़ आलिंगन उठे वह
भूल भरती भ्रान्ति
चल दिये वन प्रान्त दोनों
लो गुफा एकान्त।[१]

कवि लगभग दो पृष्ठों में कथा समाप्त कर आगे बढ जाता है और मानवता के विकास को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। यह कथा का एक बिम्ब है। कवि ने सामान्य मे से एक विशिष्ट का चयन करके स्वभावोक्ति-शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि यह कथा आदिम मानव के सैक्स-जीवन पर प्रकाश डालती है। इसे सम्पूर्ण काव्य का छोटा-सा विश्राम-स्थल माना जा सकता है परन्तु इतिवृत्त होने के कारण यह विश्राम-स्थल भी स्वभावोक्ति-शैली मे बड़े कौशल के साथ अभिव्यक्त हुआ है। 'मीरॉ' मे केवल चार छन्दों मे ही एक छोटी-सी कथा प्रस्तुत की गई है

इसी अन्तर मे एक बिलाव
लिये पजे में एक कपोत
भागता दिया दिखाई दूर
कबूतर की आई थी मौत
उठे, दौड़े दोनों जो तोड़
मृत्यु के मुख से किसी प्रकार
छुड़ाया उसको वह था खिन्न
पड़ा कोने में ले आभार
बहन भाई की हुई सलाह
पिलावें आओ इसको नीर
अन्न के दाने दिये बिखेर
चुगाने को कपोत के तीर
कर रही मीरॉ उसको प्यार
हुआ फिर भी वह तो भयभीत
काश सकता वह कुछ भी जान
बहन भाई की निश्चल प्रीत।[२]

कथा छोटी है, परन्तु अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। स्वभावोक्ति-शैली की इतिवृत्त प्रस्तुत कर सकने की सामर्थ्य के कारण ही अत्यन्त सक्षेप में प्रस्तुत की जा सकी है। इसी काव्य मे जयमल और मीरॉ की क्रीडा का एक अन्य स्थल देखिये :

१. मेधावी, रांगेय राघव, पृष्ठ १०० १०२
२ मीरॉ, द्विरेफ, पृष्ठ ५२

पीपल की छाया में दो खग
कूए के बहुत निकट लगभग
लडते थे इतस्तत भग भग
फड फड
देखने लगे वे गये भूल
आये ले क्या उद्देश्य मूल
झट बैठ गये फिर झाड धूल
पनघट पर।
छोडने लगे नाव जल में
घूमने लगी तिर तिर पल में
हर्षातिरेक अन्तस्तल में
सप्लावित।[१]

और यह क्रीडा इस प्रकार समाप्त होती है

दोनों करते-करते क्रीडन
लडने लग गये हुई अनबन
वे भूल गए सब अपनापन
थे क्रोधित।
मीरा का भर मिट्टी से तन
जयमल करने लग गया रुदन
उसने भी उसका किया वदन
रुदनोत्सुक।
फिर रोते रोते चले गये
वे धूलि-कणों से भरे देह
अचल में माँ ने किया स्नेह
मधु भाषण।[२]

यह प्रकरण न केवल वर्ण्य विषय की दृष्टि से स्वभावोक्ति है वरन् शैली की दृष्टि से भी इसमें सभी गुण हैं। यहाँ भी क्रीडा इतिवृत्तात्मक शैली से पूर्ण है।

उपर्युक्त सभी उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि जहाँ जहाँ भी कवि को इतिवृत्त प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव होगा, वहाँ-वहाँ स्वभावोक्ति-शैली अपनी लगभग सभी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत होगी। दूसरे

---

१ मीरां, द्विरेफ, पृष्ठ ९१
२ वही पृष्ठ ९६

शब्दो मे हम यह सकते हैं कि यद्यपि सकेतात्मक और अलकृत शैली म भी इतिवृत्त प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु इतिवृत्तात्मकता मूलत स्वभावोक्ति शैली का ही गुण है ।

६ परिगणना

परिगणनात्मक या गणितात्मक शैली काव्य में अस्वाभाविकता उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है । इसका कारण यह है कि कवि ऐसे स्थानो पर अनुभूत सत्यों को प्रस्तुत न कर अपने ज्ञान को दिखाना प्रारम्भ कर देता है । जहाँ कहीं भी ऐसी स्थिति आती है, कवि काव्य छोड़कर अकाव्य की रचना करने लगता है । 'प्रिय प्रवास' और 'मङ्गराज मे पेडो की गणना इसी प्रकार की है । वहाँ कवि काव्य नही, कुछ अन्य लिखता है ।

वस्तुतः परिगणना कराना एक सत्य को प्रस्तुत करना है और विभिन्न प्रकार की भौतिक वस्तुओ को उपस्थित करना स्वभावोक्ति के वर्ण्य-विषय के अन्तर्गत आता है । परन्तु कोई काव्य स्वभावोक्ति-शैली मे लिखा गया है या किसी अन्य शैली म, इसका निणय करने के पूर्व यह निर्णय और भी आवश्यक है कि वह काव्य है भी या नही । इसी कारण भामह आदि को लिखना पडा—गतोऽस्त-मर्को आदि । परिगणना स्वभावोक्ति शैली की एक विशेषता है परन्तु अनुबन्ध यह है परिगणना करानेवाला पद काव्य हो, उस काव्य के पद से अपदस्थ न किया जा सकता हो । जब कभी यह परिगणना किसी अनुभूत सत्य का उद्घाटन करती है तो वहाँ स्वभावोक्ति-शैली की इस विशेषता का चमत्कार दिखायी पडता है । 'ऊर्म्मिला' से एक उदाहरण प्रस्तुत है । लक्ष्मण के वन-गमन की वेला मे 'ऊर्म्मिला' का कथन इस प्रकार है

> ओ प्रिय तनिक झाँक देखो तो
> हुआ हृदय सूना सूना
> चौदह बरस, एक सौ अडसठ
> अरे महीने हैं कितने !
> पाँच सहस्र एक सौ दस दिन !
> क्षण मुहूर्त ये हैं कितने ?
> सचमुच समय अनन्तवन्त है—
> इस क्षण इसका भान हुआ
> लम्बी होती है दुख छाया
> इस क्षण इसका भान हुआ ।[1]

---

१ ऊर्म्मिला, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृष्ठ २५१

यहाँ गणित द्वारा चौदह वर्षों में कितने महीने और दिन होते हैं, इसकी गणना की गई है, परन्तु यह गणना न तो पुनरावृत्ति-दोष है और न वृक्षो की गणना के समान अस्वाभाविक। विरह की अवधि की लम्बाई व्यक्त करने के लिये इस शैली का उपयोग किया है। यह स्वभावोक्ति-शैली का वैशिष्ट्य है। दूसरा उदाहरण 'मेधावी' से है। सृष्टि के आदि मे तारे नृत्य करते हुए अपनी संख्या का अनुमान इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

हम उतने जितने मानव के
हैं रोम नहीं, हैं कोश नहीं
जितने पृथ्वी में अणु न अरे
जितने की गणना कहीं नहीं
हम एक-एक कितने विराट्
हैं फैले कितनी दूर दूर
मानव की मेधा पथिक बनी
हो जाती पथ में श्रान्ति चूर
हैं कोटि कोटि
हैं अरब-अरब
अपनी हैं किरणें
खरब-खरब
अपनी गति में है नील-नील
अपनी अभात्म सुधि शख-शख।[1]

यहाँ भी इसी प्रकार की परिगणना है। वैसी नही जैसी बागो और मार्गो के वृक्षों की 'प्रियप्रवास' मे है वरन् एक अन्य ही प्रकार के चारुत्व से युक्त है जो स्वभावोक्ति-काव्य की आत्मा है।

७. समासहीनता

समासो की विपुलता काव्य मे क्लिष्टता और दुरूहता उत्पन्न करती है। अत. स्वभावोक्ति-शैली अधिकांशतः समासहीन ही हुआ करती है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि समास स्वभावोक्ति-शैली से उसी प्रकार बहिष्कृत हैं जिस प्रकार उपलक्षित बिम्ब, परन्तु यह सत्य है कि स्वभावोक्ति-शैली की मूल प्रकृति समास-पदो के समाहार के अनुरूप नही है। यदि विपरीत उदाहरण लिया जाय तो 'राम की शक्ति-पूजा' का उदाहरण एक अच्छा विपरीत उदाहरण होगा। इसमें सन्देह नहीं कि यह कविता अत्यन्त अलंकृत और स्थान-स्थान पर

---

१. मेधावी, रांगेय राघव, पृष्ठ १८-१६

उपलक्षित बिम्बों से युक्त है परन्तु इसमे ऐसे स्थलों का भी अभाव नही है जो लक्षित बिम्ब के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते है। परन्तु इन स्थलो को हम स्वभावोक्ति-शैली का उदाहरण नही कह सकते क्योकि यह समास-पदो के बहुल प्रयोगों से युक्त है। इसी प्रकार 'प्रियप्रवास' मे जो भी ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि ने लम्बे समासो से युक्त पदावली का प्रयोग किया है, वे स्थल स्वभावोक्ति शैली के उदाहरण इसलिये भी नही हो सकते क्योकि वे लम्बी समास-पदावली से युक्त हैं।

८ अभिधात्मकता

शब्द की तीन शक्तियो—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना मे से स्वभावोक्ति शैली अभिधा-शक्ति को अपनाकर चलती है। यह कहना तो कठिन है कि उसमे व्यजना का प्रयोग बिलकुल नहीं होता परन्तु लक्षणा का अभाव तो उसके लिए सर्वप्रथम अनुबन्ध है। कारण यह है कि स्वभावोक्ति-शैली वक्रोक्ति की मिली अलकृत शैली की प्रतिगामी है। अत जहाँ कही भी लक्षणा शब्द-शक्ति का प्रयोग होता है वक्रता वहाँ आ ही जाती है। अत लक्षणा शब्द शक्ति स्वभावोक्ति से सर्वथा बहिष्कृत है और इसी कारण व्यञ्जना के वे सभी भेद जो लक्षणा-व्यापार को मध्यवर्ती बनाकर आते हैं, स्वभावोक्ति-शैली से बाहर ही रहते हैं। जहाँ तक व्यञ्जना का प्रश्न है टिलियर्ड महोदय ने व्यजना-काव्य या ध्वनि काव्य को भी Oblique शब्द से अभिहित किया है। यद्यपि इस शब्द का प्रयोग अधिक सार्थक नही है, फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि व्यञ्जना शब्द शक्ति तथ्य को सकेतात्मकता के साथ प्रस्तुत करती है। उसमें कुछ-न-कुछ वक्रत्व आ ही जाता है। परन्तु कोई भी काव्य ऐसा नही हो सकता जिसमे थोडी या बहुत मात्रा मे इस शक्ति का उपयोग न किया गया हो।[1] अत हम कह सकते हैं कि यद्यपि स्वभावोक्ति की मूल प्रकृति अभिधात्मक है परन्तु फिर भी उसमे अभिधामूला व्यजना के लिये उतना अवकाश है जितना कि काव्य बना रहने के लिये आवश्यक है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यदि स्वभावोक्ति शैली मूलत अभिधात्मक है तो क्या वह असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि (रस) के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-मूल्य की स्थापना करती है? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि स्वभावोक्ति-शैली रस-विरोधी नही है, तथापि इस शैली के माध्यम से हम रस तक पहुँच सकते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम बात तो समझने की यह है कि वस्तु-ध्वनि और अलकार ध्वनि अवधारणात्मक हैं और स्वभावोक्ति इस अवधारणात्मक ध्वन्यर्थ से विहीन है। परन्तु रस ध्वनि एक अनुभव है जो अवधारणात्मक न होकर आस्वादरूप है, अत अभिधा के द्वारा भी रसानुभव

तक पहुँचा जा सकता है। अतः स्वभावोक्ति-शैली अपनी अभिधात्मक प्रकृति के कारण किसी भी प्रकार रस-विरोधी नहीं हो सकती। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी ध्यान में रखने की है कि स्वभावोक्ति का वर्ण्य-विषय है वस्तुगत सौन्दर्य। इसी कारण प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने जो स्वभावोक्ति अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे रस की सृष्टि न करके कुछ निचले स्तर पर रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनका स्तर सौन्दर्य का स्तर है रस का नहीं। इसका कारण यह नहीं है कि स्वभावोक्ति-शैली अपनी अभिधात्मक प्रकृति के कारण रस-निष्पत्ति करने में असमर्थ है वरन् इसका कारण मात्र इतना ही है कि आचार्यों ने जिस क्षेत्र को स्वभावोक्ति का वर्ण्य-विषय चुना है वह वस्तुगत सौन्दर्य की ही सृष्टि कर पाता है, भावगत सौन्दर्य की नहीं।

परन्तु एक अन्य बात भी महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि स्वभावोक्ति-शैली किसी भी प्रकार से रस-विरोधी नहीं है परन्तु फिर भी यह शैली काव्य-शिल्प में लक्षित बिम्ब-योजना के महत्त्व की प्रतिष्ठा करती है। उपलक्षित बिम्ब वस्तुतः ध्वनित बिम्ब होते हैं अभिधात्मक बिम्ब नहीं, परन्तु स्वभावोक्ति-शैली जिन लक्षित बिम्बों को प्रस्तुत करती है वे सभी बिम्ब अनिवार्यतः अभिधात्मक होते हैं।

स्वभावोक्ति-शैली और गुण

भोज ने काव्य को वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति तीन मार्गों में विभक्त करते हुए स्वभावोक्ति को गुण प्रधान माना है। गुण-प्रधान का तात्पर्य यही है कि उसमें अलंकार और रस तो गौण रूप में रहते हैं परन्तु प्राधान्य गुणों का ही रहता है। हमें विचार करना है कि भोज के इस कथन का क्या तात्पर्य है और यह कहाँ तक ठीक है।

जहाँ तक गुणों के स्वरूप का प्रश्न है, गुण रस के उत्कर्षकारक धर्म हैं। वे रस-ग्रहण के लिए मानसिक स्थिति का निर्माण करते हैं। रस के साथ-साथ कवि-लेखनी से वे स्वतः ही स्फुट होते जाते हैं। पाठक के लिए उनकी स्थिति भूमिका के रूप में प्रथम ही रहती है। वे काव्य के नित्य धर्म हैं, समवाय रूप से सम्बन्धित हैं। काव्य में उनकी उपस्थिति आवश्यक है।

डॉ० राघवन ने स्वभावोक्ति के गुण-प्रधानत्व के बारे में लिखा है कि यदि स्वभावोक्ति पर अलंकार और किसी विशिष्ट गुण की प्रकृति को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो भोज की यह कल्पना ठीक रूप में नहीं समझी जा सकती कि स्वभावोक्ति गुण प्रधान है। सर्वप्रथम बात तो यह है कि जाति या स्वभावोक्ति एक अलंकार है और प्रथम अलंकार है। अतः जब

कहता है कि वक्रोक्ति अलङ्कार प्रधान है तो क्या उस समय स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति के क्षेत्र मे सम्मिलित कर लेता है ? यदि यह सत्य है तो फिर यह कहते समय कि वक्रोक्ति अलकार प्रधान है, उपमादि से प्रारम्भ क्यो करता है— तत्र उपमाद्यलङ्कार प्राधान्ये वक्रोक्ति, उसको जाति या स्वभावोक्ति से ही प्रारम्भ करना चाहिए था ? यदि उसने उपमादि से प्रारम्भ किया है तो क्या *यह समझा जा सकता है कि स्वभावोक्ति अलङ्कार-क्षेत्र से बाहर की वस्तु है ?* भोज के सम्बन्ध मे इन सभी बातो को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसके इस त्रिविध वर्गीकरण को भोज के अपने अलङ्कार और गुण-सम्बन्धी विचारों के परिप्रेक्ष्य मे देखें। भोज गुणों की परिभाषा और अलकार से उनके भेद के सम्बन्ध मे वामन का अनुसरण करता है। गुण का काव्य के साथ नित्य समवाय सम्बन्ध है जबकि अलकारो का अनित्य सयोग सम्बन्ध है। गुण काव्य के लिये अनिवार्य हैं और उनके बिना कविता हो ही नही सकती, परन्तु अलकारों के अभाव मे कविता हो सकती है। गुण शोभाकारक धर्म भी माने जाते हैं परन्तु वे स्वाभाविक शोभा को ही व्यक्त करते हैं, जबकि अलकार कृत्रिम शोभा का सृजन करते हैं। अत किसी काव्य मे जहाँ उपमादि अलकार न भी हो, तो भी वहाँ गुणजन्य सौन्दर्य रह सकता है। स्वभावोक्ति एक ऐसा काव्य है जिसके क्षेत्र मे वक्रोक्ति के अन्तगत आनेवाले सभी अलकार बहिष्कृत हैं, अत एक ही विकल्प रह जाता है कि उसमे स्वाभाविक शोभा की ओर सकेत करने-वाले गुण पर्याप्त मात्रा मे हो। सम्भवत इसी कारण भोज ने स्वभावोक्ति को *ऐसी उक्ति माना है जो गुण प्रधान है।*[1]

डॉ० राघवन के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति को अलकार नही माना जा सकता। वस्तुत स्वाभाविक शोभा को प्रस्तुत करने-वाली शैली—स्वभावोक्ति-शैली स्वय काव्य का एक गुण है। यह अन्य काव्य-गुणो की अपेक्षा वहाँ उसको पुष्टता या चारुत्व प्रदान कर सकने के लिये हुआ करती है। अत हम कह सकते हैं कि स्वभावोक्ति-शैली मे लिखा गया काव्य अपने शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण अपने-आप मे एक सिद्धि है।

विषय और स्वभावोक्ति-शैली का सम्बन्ध

ऊपर हमने स्वभावोक्ति-शैली की जिन आठ विशेषताओं—निर्व्याजता, निरलकृतता, लक्षित बिम्बविधान, सरलता, इतिवृत्तात्मकता, भावोन्नयनकारी परिगणना, समासहीनता और अभिधात्मकता का वर्णन किया है वे सभी विशेष-ताएँ जिस काव्य खण्ड मे भी होगी वही काव्य-खण्ड स्वभावोक्ति-शैली का उदाहरण

---

1 Bhoja's 'Shrangar Prakash', Dr V Raghavan, p. 136-137

माना जायगा। स्वभावोक्ति के भाव-पक्ष मे हमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसका वर्ण्य-विषय क्या है। इसकी सीमा मे लौकिक जगत् के लगभग सभी कार्य-व्यापार समाहित हो जाते हैं। परन्तु यदि अतिलौकिक विषय भी इस शैली मे लिखा जायेगा तो उसके विषय मे हम कह सकते हैं कि उसकी शैली तो स्वभावोक्ति-शैली है परन्तु वर्ण्य-विषय स्वभावोक्ति के बाहर का है।

परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है वह एक सैद्धातिक बात है। हिन्दी-काव्य के विभिन्न महाकाव्यों और खण्डकाव्यो का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि व्यवहार मे कुछ विषय ऐसे भी हैं कि जिनको लिखते समय कवि इसी शैली को अपनाता है और इन विषयो पर लिखा गया काव्य साधारणत. स्वभावोक्ति काव्य ही होता है। ये विषय हैं—गार्हस्थिकता, लोक-जीवन, बाल-क्रीडा, पशु-चेष्टा, सभा-वर्णन, नगर-वर्णन और वात्सल्य। इन छ तत्त्वों का विवेचन करते समय प्रथम तीन के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। पशु-चेष्टा के रूप मे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का प्रथम श्लोक जगत्प्रसिद्ध उदाहरण है। कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवितम्' मे प्रयुक्त इस शैली के उदाहरणों मे से भी अनेक उदाहरण पशु-चेष्टाओ को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक सभा-वर्णन का प्रश्न है, 'रामचरितमानस' मे अयोध्या की भरत-सभा, चित्रकूट की भरत-सभा, 'साकेत' मे चित्रकूट की भरत-सभा, 'ऊर्मिला' के अन्तिम सर्ग के प्रारम्भ मे विभीषण की राज्य-सभा और द्वितीय सर्ग मे दशरथ की सभा, 'साकेत सन्त' की दोनो सभाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। सूर का वात्सल्य-वर्णन स्वभावोक्ति-शैली का जगत्प्रसिद्ध उदाहरण है। यह भी गार्हस्थिक चित्रण का ही एक विशिष्ट रूप है।

युद्ध-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, रूप-वर्णन आदि कुछ ऐसे विषय हैं जो अलकृत या साकेतिक शैली मे भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं और साथ ही स्वभावोक्ति-शैली मे भी उतने ही वैशिष्ट्य के साथ सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। युद्ध एक आवेश-पूर्ण दृश्य है जिसमे जीवन की बाजी लगाई जाती है, वीर हृदय के अरमान उछलते हैं। ऐसे स्थलो पर कवि ओजस्व को उद्दीप्त करने और रस की सृष्टि करने के उद्देश्य से अलकृत काव्य की सृष्टि करता है। परन्तु अनेक स्थलों पर वीर हृदय की अभिलाषाओं को अकित करने के लिये कवि को स्वभावोक्ति-शैली को भी अपनाना पडता है। यदि 'रश्मिरथी' और 'भङ्गराज' मे युद्ध-वर्णनों की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि एक ही युद्ध-प्रसग 'रश्मिरथी' मे स्वभावोक्ति-शैली के तत्त्वो से पूर्ण है जबकि 'भङ्गराज' मे वह पूर्णत अलकृत शैली मे लिखा गया है। परन्तु कुछ स्थानो पर 'भङ्गराज' मे भी स्वभावोक्ति-शैली को अपनाना पडा है। दोनो ही काव्यो से एक ही प्रसग के दो उद्धरण प्रस्तुत हैं:

(१) शत्रु प्रहारण से रण-त्रस्त, जहाँ कुरुराज चमू भगती है।
भूप युधिष्ठिर के जय-कीर्तन की ध्वनि नित्य जहाँ उठती है।
और जहाँ अरि अस्त्र प्रसूत, भयानक अग्निशिखा जलती है।
सूत चलो उस ओर जहाँ, हरि रक्षित पार्थ ध्वजा उड़ती है।
शल्य करो रथ की गति तीव्र महारण आज धरा पर होगा।
भीषण बाण, प्रहर्षण घर्षण-घोष-प्रघोष निरन्तर होगा।
ध्वंसक लोक-प्रहर्षक कर्ण-धनञ्जय का अब समर होगा।
भारत वीर समाज समस्त अभी कुरुभूमि स्वयंवर होगा।

—अङ्गराज, आनन्द कुमार

(२) ओ शल्य ! हयों को तेज करो,
ले चलो उड़ाकर शीघ्र वहाँ।
गोविन्द पार्थ के साथ डटे हों,
चुन कर सारे वीर जहाँ।
हो शस्त्रों का झनन निनाद,
दन्तावल हों चिंघार रहे।
रण को कराल घोषित करते,
हों समर शूर हुंकार रहे।
कटते हों अगणित रुण्ड मुण्ड,
उठता हो आर्तनाद क्षण-क्षण।
झनझना रही हों तलवारें,
उड़ते हों तिग्म विशिख सन-सन।

—रश्मिरथी, दिनकर

यद्यपि अङ्गराज का उदाहरण अपेक्षाकृत कुछ अधिक स्वर और व्यजन-विलास से पूर्ण है तथापि दोनों ही उदाहरण प्रसादत्वपूर्ण स्वभावोक्ति-शैली का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

जहाँ तक प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है, प्रकृति का वर्णन करते ही कवि या तो कामिनी के विभिन्न अङ्गो को अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत करने लगता है या फिर प्रतीक-शैली को अपनाता है। सम्पूर्ण 'कामायनी' का प्रकृति-चित्रण ऐसा ही है। काव्य मे अधिकाशत प्रकृति-चित्रण का यही रूप उपलब्ध होता है। परतु जहाँ कहीं कवि अपनी अनुभूति की गहराई का आश्रय लेकर निरलकृत और निर्व्याज वर्णन प्रस्तुत करता है वहाँ प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक होता है। तुलनात्मक रूप में उद्दीपन-रूप प्रकृति-चित्रण के दो उदाहरण क्रमश 'कामायनी' और 'मीरां' से उद्धृत हैं

(१) सध्या अरुण जलज केशर ले, अब तक मन थी बहलाती,
मुरझाकर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता, मलिन कालिमा के कर से।
कोकिल की काकली वृथा ही, अब कलियों पर मँडराती।
\+ \+ \+
नील-गगन में उड़ती-उड़ती विहग बालिका सी किरणें,
स्वप्न-लोक को चलीं थकी-सी नींद सेज पर जा गिरने।
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं,
बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने।
\+ \+ \+
सध्या नील-सरोरुह से जो नील पराग बिखरते थे,
शैल घाटियों के अचल को वे धीरे से भरते थे,
तृण गुल्मों से रोमांचित नग, सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिलकर जो स्वर भरते थे।
× \+ ×
सूने गिरि-पथ में गुंजारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
आकांक्षा-लहरी दुख-तटिनी पुलिन अङ्क मे थी ढलती,
जले दीप नभ के अभिलाषा-शलभ उड़े उस ओर चले,
भरा रह गया आँखों मे जल, बुझी न वह ज्वाला जलती।

—'कामायनी', प्रसाद

(२) पीपल का वह प्राचीन वृक्ष!
दोपहरी का जो शयन-कक्ष, सब तुच्छ रहे जिसके समक्ष,
वे हरे भरे वे शुष्क पर्ण, जिनका सचय था नित्य कर्म,
नौका बनती, ऊपर चढ़ने का जान सकेगा कौन मर्म?
फुनगी फैला कहता था ज्यों, आओ मेरे सुकुमार फूल।
जीवन परिवर्तित हुआ अधिक, क्या मुझ को भी तुम गईं भूल,
था खड़ा विहग ज्यों छिन्न पक्ष।
सूखे बिखरे थे सभी पात।
थे कॉप रहे थर थर थर-थर, बीता था नवयुग का प्रभात,
वे मृदु पल्लव, जिनसे प्रतिक्षण थी आँखमिचौनी किये खेल,
जाने कब कौन कहाँ विलीन हो गये, ले गया कौन पेल?
उनका सूखा, सूना शरीर कहता था वे भी लिये खेद,
भू में खोये मिट्टी बनकर अस्तित्व न कुछ भी रहा भेद,
कुछ भी न यहाँ अब रही बात।

उस पीपल के वासी विहंग।
सूने-सूने-से उड़ते थे, सब चला गया था रास रङ्ग,
अब नहीं पास उड़ आते थे पर तब करते थे उछल कूद,
गायन गाते, हँसते आते, फुनगी पर सोते नयन मूँद,
जब करते बात पकड़ने की, तो जाते फर-फर दूर भाग,
दोनों पर फिर आ डटते थे, चिड़ियाँ, कपोत, शुकण्डुन्ड, काग,
तब कितनी थी सुन्दर उमङ्ग !
सुनसान पड़ा था मित्र कूप।
ऐसा लगता था जैसे इसका बदल गया है सभी रूप,
झुक-झुककर झाँक झाँक अविरल जिससे करते थे मुक्त बात,
फेंका करते ककड़ फिर भी रहता था मीठा स्नेह-स्नात,
जिसके जलकुण्डों का पानी हर देता था सब देह ताप,
तिरना, भगना, चक्कर, क्रीड़ा, जिनके सुख का कुछ नहीं माप,
सहता एकाकी शरद धूप।

—'मीरां', द्विरेफ

इन दोनों ही प्रकृति चित्रणो मे से प्रथम निरन्तर अलकृत और अप्रस्तुत बिम्बो को साथ लिये हुए है जबकि द्वितीय मुख्यत अनलङ्कृत, यदा-कदा उत्प्रेक्षा से युक्त और एकदम सरल है। कामायनी' के पद अपेक्षाकृत अधिक दुरुह हैं। 'कामायनी' की भाषा मे साहित्यिक गौरव अधिक है और मीरां की भाषा नित्य बोल चाल की भाषा होने से एकदम स्पष्ट है। कोई भी सहृदय शैली के इस अन्तर को तुरन्त पकड सकता है।

जहाँ तक रूप-वर्णन का प्रश्न है, ऐसे बहुत ही कम स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ कवि अपने वर्णन को अप्रस्तुत विधान से बचा सके। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक कवि मे इसी बात की प्रतिस्पर्द्धा सी होती है कि वह कितना सुन्दर उपमान प्रस्तुत कर पाया है। परन्तु रूप-चित्रण मे जहाँ मुद्रा चित्रण होता है वहाँ मुद्राओ का चित्रण पूर्णत स्वभावोक्ति शैली मे प्रस्तुत करना सम्भव है। उदाहरण के लिये कुछ रीतिकालीन पद लीजिये

(१) भौंहनु त्रासति, दृग नटति, आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर, इंची आगे आवति जाति।। —बिहारी

(२) बछरैं खरी प्यावैं गऊ तिहिं कौं पद्माकर को मन ल्यावत है।
तिय जानि गिरैयां गही बनमाल, सु ऐंचे लला इच्यो आवत है।
उलटी करि दोहनी मोहनी की अगुरी थन जानि कै दावत है।
दुहिबौ औ' दुहाइबौ दोउन को सखि देखत हो बन आवत है।

—पद्माकर, 'जगद्विनोद', ४४२

(३) पग जराइ की गूजरी, नथुनी मुकुत सुढार।
घने घेर को घाघरो, घूंघर वारे बार॥
—'मतिराम-सतसई', १०८

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति-शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं—निरलंकृतता, निर्व्याजता, लक्षित बिम्ब-विधान, सरलता, इतिवृत्तात्मकता, भावोन्नयनकारी परिगणना, समास-हीनता और अभिधात्मकता। निरलंकृतता में अलंकारों का प्रयोग बिलकुल नहीं होता, जबकि निर्व्याजता में शब्दालंकारों में से अनुप्रास का प्रयोग हो सकता है और उन अर्थालंकारों का भी जो शैलीगत न होकर विषयगत हैं। कुछ ऐसे शैलीगत अलंकार भी उसमें समाहृत हो सकते हैं जो नाममात्र के अलंकार हैं जैसे क्रमालंकार। यह अलंकार न होकर एक सामान्य स्थिति है। हाँ, इसका अभाव काव्य में दोष अवश्य उत्पन्न करता है परन्तु इसका सद्भाव कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न करता। निर्व्याज-वर्णन दो प्रकार का हो सकता है—विवरणात्मक और बिम्बात्मक। निश्चित ही बिम्ब प्रस्तुत करनेवाला वर्णन ही अधिक श्रेष्ठ होगा। लक्षित बिम्ब निर्व्याज-शैली का सहज परिणाम है अतः स्वभावोक्ति शैली के अधिकांश उदाहरणों में लक्षित बिम्ब की योजना ही दिखाई पड़ेगी। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बिम्ब हो ही, उसके बिना भी स्वभावोक्ति-शैली अपने अन्य तत्त्वों के कारण अस्तित्व में रहती है। निर्व्याजता और निरलंकृतता से उत्पन्न सारल्य एक ऐसा गुण है जो स्वभावोक्ति-शैली में सर्वत्र अपेक्षित है। दुरूहता स्वभावोक्ति-शैली के लिये सबसे बड़ा विपरीत तत्त्व है। इतिवृत्तात्मक स्थल काव्य को ऐसा अवकाश देता है जहाँ निर्व्याजता, निरलंकृतता, लक्षित बिम्ब आदि अपने सौन्दर्य का चमत्कार दिखाने में समर्थ हों।

स्वभावोक्ति शैली अपने विशिष्ट गुणों के कारण अपना एक निश्चित स्वरूप रखती है परन्तु स्वभावोक्ति का वर्ण्य विषय बहुत-कुछ निश्चित होने पर भी कुछ विषय ऐसे भी हैं जहाँ स्वभावोक्ति-शैली का प्रयोग अनिवार्य रूप में होता है। कुछ विषय ऐसे भी हैं जो अधिकांशतः प्रतीकात्मक या अलंकृत-शैली में अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं, परन्तु जब वे स्वभावोक्ति शैली में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं तो अपेक्षाकृत अधिक चारु और आकर्षक हो जाते हैं।

उपसंहार

स्वभावोक्ति का स्वरूप-निरूपण

गत अध्यायों के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र ने स्वभावोक्ति के विषय मे दो मूलभूत प्रश्नो को उठाया—१. क्या स्वभावोक्ति काव्य है ? २ क्या स्वभावोक्ति अलकार है ? प्रथम प्रश्न के उठने का कारण यह था कि स्वभावोक्ति के काव्यत्व पर सन्देह करनेवाले सभी आचार्यों की दृष्टि स्वभावोक्ति के मात्र वर्ण्य-विषय पर रही और वे शैलीगत चारुत्व को न पकड पाने के कारण ही उस भ्रम मे पडे कि स्वभावोक्ति काव्य नहीं है। परन्तु जिन आचार्यों ने स्वभावोक्ति के शैलीगत सौन्दर्य को भी समझा उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का खण्डन करने के लिये चारुत्व, चमत्कार, अद्भुतार्थ आदि अनेक ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जो सूक्ष्मरूप में काव्य के ही पर्यायवाची हैं। वस्तुत उनके कथन का तात्पर्य यह था कि स्वभावोक्ति पर विचार करते समय यदि यह विचार मस्तिष्क से निकल गया कि हम काव्य के अनुशीलन की बात कर रहे हैं तो फिर हम स्वभाव वर्णन के किसी भी रूप के विषय मे विचार कर सकते हैं और कोई भी तर्क उपस्थित कर सकते हैं। परन्तु यह बात मात्र स्वभाव के विषय म ही क्यों ? किसी विचार को व्यक्त करनेवाले पद्य के विषय मे भी यह प्रश्न उठ सकता है और उठना चाहिये कि वह काव्य है या नहीं और उठता भी है। परन्तु जब भी हम काव्य शास्त्र का चिन्तन करते हैं तो शास्त्र के पूर्व काव्य का सामने होना प्रथम अनुबन्ध है। अत स्वभाव का कथन यदि काव्य की कोटि का नहीं है तो वह काव्यशास्त्र के चिन्तन का विषय ही नही हो सकता और यह बात सत्य सिद्ध हो चुकी है कि चारु, अद्भुत और सूक्ष्म वर्णन इत्यादि काव्य के ही पर्याय हैं, अत स्वभाव का इस प्रकार का वर्णन ही काव्य हो सकता है। फलत यह प्रश्न अपने-आपमें महत्वहीन है कि स्वभावोक्ति काव्य है या नही। काव्यशास्त्र मे स्वभाव की उसी उक्ति का विश्लेषण कर सकते हैं जो काव्य है और स्वभाव की उक्ति काव्यरूप मे भी अभिव्यक्ति पाती है, पाती आई है और पाती रहेगी। अत स्वभावोक्ति के काव्यतत्त्व मे किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं हो सकता।

अलकारत्व से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। जिन अलकारिको ने वर्ण्य-वस्तु को भी अलकारो मे समाहित कर लिया है उनके द्वारा स्वभावोक्ति के अलकारत्व की घोषणा कोई अर्थ नही रखती क्योंकि वहाँ तो अलकार-विषयक कल्पना ही गलत आधार पर खडी हुई है। परन्तु शैली के आधार पर अलकारों को स्वीकार करनेवाले ध्वनिवादी आचार्य मम्मटादि ने भी इसे अलकाररूप मे स्वीकार किया है। इसका कारण बहुत-कुछ यही है कि अलकारों के घटाटोप से मुक्त काव्य के मध्य जब स्वभावोक्ति-शैली के कुछ उदाहरण सामने आए तो आचार्यों ने उसे भी एक विशिष्ट अलकार मान लिया जिसमे सादगी ही वैशिष्ट्य थी। परन्तु स्वभावोक्ति शैली जिस प्रपचहीनता और आवरणहीनता को लेकर चलती है वह जीवन के वैशिष्ट्य की ओर नहीं, जीवन की सहजता और सामान्यता की ओर सकेत करती है। वस्तुत. यह सहजता ही जीवन है। काव्य की अन्य शैलियाँ और अनेक अलकार इस सहज जीवन-सागर मे उठनेवाली ऊर्मियाँ हैं। इन ऊर्मियो के गर्भ मे जीवन-सागर की सहजता का जल है जिसके आधार पर ये ऊर्मियाँ उठती हैं। अत स्वभावोक्ति-शैली काव्य की सामान्य शैली है जबकि अलकार इस सामान्य शैली की आधारभूमि पर क्रीडा करनेवाले तत्त्व हैं। काव्य अलकार का नाम नही है; अनुभूति की अभि व्यञ्जना का नाम है और स्वभावोक्ति-शैली इस अभिव्यञ्जना की सामान्य शैली है जबकि अलकार विशिष्ट। अत. अलकारत्व के सम्बन्ध मे कुन्तक के इस प्रश्न के आगे कि यदि स्वभावोक्ति अलकार है तो अलकार्य क्या है, कोई भी तर्क नही ठहरता और यह बात एकदम स्पष्ट हो गई है कि स्वभावोक्ति अलकार नही है। वह एक शैली अवश्य है परन्तु एक सामान्य शैली है, विशिष्ट नही। यह शैली इतनी व्यापक है कि प्रत्येक अलकार के गर्भ मे रहती है अत उसको अलकार की सीमा में बाँधकर नही रखा जा सकता।

यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि अलकारिको ने वक्रोक्ति को एक अलकार माना है और कुन्तक ने उसे एक व्यापक शैली के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। अत यदि वक्रोक्ति को अलकार और एक व्यापक शैली, दोनो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है तो स्वभावोक्ति को भी दोनो रूपो में स्वीकार किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि जिस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक व्यापक शैली के रूप मे प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार इस ग्रन्थ मे स्वभावोक्ति शैली को भी उसके व्यापक रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। परन्तु मूल बात यह है कि स्वभावोक्ति शैली अभिव्यञ्जना की निश्छल और निष्प्रयत्न शैली का नाम है जबकि वक्रोक्ति-शैली काव्यकौशल का पर्याय है। दूसरे, वक्रोक्ति विशुद्ध रूप से एक शैली ही है जबकि स्वभावोक्ति का वर्ण्य-विषय भी निश्चित ही है। वर्ण्य-विषय को हम शैली या अलंकार

नहीं दे सकते, क्योंकि उस दशा में अलंकार का 'कार' (डॉ० नगेन्द्र) निरर्थक हो जाता है। जहाँ तक विशुद्ध शैली का प्रश्न है, उसके बारे में कहा जा चुका है कि यह शैली अभिव्यक्ति का अनिवार्य तत्त्व है विशिष्ट नहीं, और इस सामान्यता को विशिष्टता का रूप नहीं दिया जा सकता।

भारतीय काव्य-शास्त्र में स्वभावोक्ति के अलंकारत्व और काव्यत्व को लेकर जो कुछ विवेचन हुआ उससे स्वभावोक्ति के वर्ण्य-विषय और शैली की विशेषताओं के अनेक तत्त्व सामने आये और उनको इस ग्रन्थ में एक व्यापक रूप प्रदान करने में पर्याप्त सहायता मिली है। जहाँ तक वर्ण्य-विषय का प्रश्न है अलंकारिकों ने पशु-पक्षी, बालक, स्त्री-पुरुष आदि के स्वभाव-वर्णन तक ही इसके वर्ण्य-विषय को सीमित रखा है। परन्तु हमने स्वभाव शब्द की व्यापक व्याख्या करके सम्पूर्ण अस्तित्वशील और यथार्थ जगत् को इसका वर्ण्य-विषय माना है और जो कुछ काल्पनिक, अतिलौकिक या असंगत है उसे इसके क्षेत्र से बाहर कर दिया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक अस्तित्वशील वस्तु के रूप, गुण, क्रिया आदि का वर्णन स्वभावोक्ति का विषय है, चाहे वह वस्तु मनुष्य-निर्मित हो या प्रकृति-जन्य। इस प्रकार काव्य के वर्ण्य-विषय का बहुत बड़ा भाग स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आ जाता है। स्वभावोक्ति, के वर्ण्य-विषय का विस्तार 'स्वभाव' शब्द की सैद्धान्तिक व्याख्या पर ही आधृत नहीं है वरन् काव्य के वर्ण्य-विषय का अवलोकन करने पर भी यह पुष्ट होता है। प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन के अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें 'वस्तु' के स्वभाव को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु जो बात चित्रकला और मूर्तिकला के क्षेत्र में रही है वह बात काव्य के बारे में भी रही है। सम्पूर्ण जगत् के पशु-पक्षी, प्राकृतिक और सामाजिक दृश्य, सुखद और दुःखद घटनाएँ चित्रकला का वर्ण्य-विषय हैं। चित्रकला में अमूर्त चित्रण का आन्दोलन प्रारम्भ होने के बाद भी चित्रकला में आज भी वस्तु-जगत् की अभिव्यक्ति ही प्राचुर्य के साथ होती है। परन्तु सम्पूर्ण जगत् वर्ण्य-विषय के रूप में सामने होने पर भी चित्रकला का मुख्यतम विषय मानव ही है। मूर्तिकला के क्षेत्र में तो प्रकृति-चित्रण भी उतना नहीं हो पाता है। उसमें पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधों के जो टंकन मिलते हैं उनका प्रतिशत बहुत कम होता है। वस्तुतः मानव-शरीर और स्वभाव ही उसका मुख्य वर्ण्य-विषय है। इसी प्रकार स्वभावोक्ति-काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है इसमें सन्देह नहीं। उसके अन्तर्गत लगभग सभी भौतिक अस्तित्वों का वर्णन आ जाता है। परन्तु काव्य के व्यावहारिक स्वरूप को देखने पर स्पष्ट होता है कि स्वभावोक्ति का मुख्य वर्ण्य-विषय मानव-स्वभाव ही है और इस स्वभाव की अभिव्यक्ति जिस रूप में काव्य में होती है उसका वर्णन हम चतुर्थ अध्याय में कर आये हैं।

अलंकार के रूप में प्रस्तुत स्वभावोक्ति-वर्णन के लक्षणों और उदाहरणों द्वारा इस शैली की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट हुई जिनमें से पहली विशेषता यह कि स्वभावोक्ति-शैली एक काव्य-शैली है अतः उसमें वे सभी तत्त्व अनिवार्यतः ने चाहिये जो कि काव्य के लिए अपरिहार्य हैं। ये तत्त्व हैं चारुत्व, औद्भुत्य, मत्कार और पुष्टता आदि। परन्तु स्वभावोक्ति-शैली की अपनी निजी विशेषाओं में निर्व्याजता ही एक ऐसी मूलभूत विशेषता है जिसके अन्तर्गत सभी शेषताओं का समाहार हो जाता है। शेष सभी विशेषताएँ इसी निर्व्याजता का पउत्पाद्य हैं। निरलङ्कृतता निर्व्याजता को पीछे छोड़कर स्वभावोक्ति-शैली की क आवश्यक विशेषता के रूप में सामने आती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में ह विशेषता अपरिहार्य विशेषता के रूप में स्थित नहीं हो पाती। अनेक स्थानों र स्वभावोक्ति-शैली अलंकारिकों के अलकार-चक्र में आ ही जाती है।

जैसा कि रुय्यक के स्वभावोक्ति-विवेचन के प्रसंग में कहा गया है, स्वभावोक्ति-शैली केवल किसी प्रकरण-विशिष्ट तक ही सीमित नहीं है, उसका विस्तार प्रबंध-रचना तक है। किसी भी प्रबंध-काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति या अलंकार-प्रधान शैली स्थान-स्थान पर आती ही है, परन्तु दण्डी द्वारा संकेतित विशेषता 'साक्षाद्विवृणवती' एक ऐसी विशेषता है जो शैली के विविध प्रकारों से युक्त महाकाव्य या खण्ड-काव्य के लिए आवश्यक है। इसका अर्थ 'प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती' किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध-काव्य की कथा पाठक के समक्ष एकदम प्रत्यक्ष होकर सामने आनी चाहिए। उसका विराट् बिम्ब उसके मस्तिष्क पर अंकित होना ही चाहिए। रुय्यक तथा अन्य अलंकारिकों ने इस विशेषता को भाविक अलंकार कहा है। परन्तु भाविक अलंकार के अलंकारत्व के समक्ष भी वे सारी समस्याएँ खड़ी हैं जो स्वभावोक्ति के अलंकारत्व के सामने आयी हैं। वस्तुतः भाविक कोई अलंकार न होकर स्वभावोक्ति-शैली की एक प्रबन्धगत विशेषता मात्र है जो सम्पूर्ण घटनाओं का लक्षित बिम्ब पाठक के मस्तिष्क पर अंकित करती है। यह बिम्ब व्यापक होता है परन्तु यह अनिवार्य और अपरिहार्य रूप से एक लक्षित बिम्ब होता है। कथा में आये सम्पूर्ण उपलक्षित बिम्ब इस महाबिम्ब में समाहित होकर पाठक को कथा का निर्व्याज साक्षात्कार कराते हैं। यदि इसकी शब्दावली प्रयोग करने की अनुमति हो तो कहा जा सकता है कि *साधारणीकरण स्वभावोक्ति-शैली का* सबसे बड़ा प्रबन्धगत गुण है।

स्वभावोक्ति-शैली और अन्य सिद्धान्त

स्वभावोक्ति-शैली वस्तु के यथावत् वर्णन पर बल देती है। वह वस्तु के स्वरूप को ज्यों-का-त्यों पाठक के सामने बिम्ब-रूप में प्रस्तुत करना चाहती

है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे अरस्तू ने अनुकरण को काव्य की मूल प्रकृति माना है। यद्यपि अरस्तू और उसके पूर्ववर्ती प्लेटो ने अनुकरण शब्द का प्रयोग जिस अर्थ मे किया था वह है वस्तु-जगत् की अनुकृति, परन्तु बाद मे अरस्तू के व्याख्याताओ ने इस सिद्धान्त को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया और उसमे न केवल वस्तुगत सौन्दर्य का ही समाहार किया वरन्, भावगत सौन्दर्य को भी समाहित कर लिया और उसका अर्थ किया वस्तु-जगत् के द्वारा कवि-हृदय पर पड़े प्रभाव का अनुकरण। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भाव-जगत् भी सम्मिलित हो गया। परन्तु अनुकरण-सिद्धान्त अपने मूल-रूप में वस्तुगत अनुकरण का ही पर्याय है, भावगत-अनुकरण का नही। अत. यह कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति-शैली अनुकरण-सिद्धान्त के निकट है, क्योंकि दोनो ही यथातथ्य वर्णन पर बल देते हैं। दोनो ही काव्य मे वस्तु-तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं। परन्तु अनुकरण सिद्धान्त का शैली-पक्ष एकदम अनिश्चित है। उसके बारे मे केवल एक ही बात निश्चित है, शैली ऐसी होनी चाहिए जो अनुकरण व अनुकार्य मे निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भले ही किसी भी प्रकार के साधनो का प्रयोग क्यो न करना पड़े। परन्तु स्वभावोक्ति-शैली का रूप निश्चित है। उसमे किसी भी प्रकार के अप्रस्तुत-विधान का निषेध है। साथ ही स्वभावोक्ति स्वभाव के वर्णन पर अधिक बल देती है। तात्पर्य यह कि स्वभावोक्ति जिस वस्तुगत सौंदर्य का अकन करती है उसके अधिकाश उदाहरण अन्तर्जगत् से, चेतना से नियत्रित होते हैं।

यथार्थवाद काव्य का एक ऐसा आन्दोलन है जो सामाजिक सत्यो को निरावृत करके रखना चाहता है। मूल रूप मे, या कहिये कि शैली के रूप मे, यथार्थवाद बहुत-कुछ स्वभावोक्ति-शैली के ही निकट पडता है। परन्तु जहाँ तक वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, यथार्थवाद का वर्ण्य-विषय सामाजिक चेतना से इतना अधिक अभिभूत है कि उसकी दृष्टि समाज के उन्हीं पक्षो पर पडा करती है जो बुरे, कुत्सित और अवाच्छनीय हैं। समाज की श्रेष्ठता और प्रतिभा का उद्घाटन उसने अपने विरोधी आदर्शवादी आन्दोलन के लिए छोड दिया है। परन्तु स्वभावोक्ति मे समाज-चेतना की प्रबुद्धता नही है। स्वभावोक्ति इस विषय मे उदासीन है। यो कोई भी ऐसा विषय जो यथार्थवाद का वर्ण्य-विषय है स्वभावोक्ति के वर्ण्य-विषय के बाहर नही पडता, परन्तु यथार्थवाद जिस मतवाद और आग्रह को लेकर चलता है वह निश्चित ही स्वभावोक्ति का क्षेत्र नहीं है। ये दोनो ही काव्य वस्तु-जगत् के कट्टर समर्थक हैं; परन्तु स्वभावोक्ति जहाँ सामान्य स्वभाव को प्रस्तुत करती है वहाँ यथार्थवाद असामान्य विकृतियों पर बल देता है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है यथार्थवादी शैली वस्तुत. स्वभावोक्ति-शैली ही है।

प्रकृतवाद साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधियो की स्थापना करता है। वह वैज्ञानिक विश्लेषण की विधि से ही काव्य की व्याख्या करता है, सृजन-प्रक्रिया की व्याख्या करता है। अधिकांश प्रकृतवादी साहित्य गद्यात्मक है और उसका प्रिय विषय है सैक्स। सैक्स-सम्बन्धी व्यवहार को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर काव्य मे प्रस्तुत करना, यही उसका स्वाभाविक रूप है, उसका वर्ण्य-विषय है। इसमे सन्देह नही कि प्रकृतवादी साहित्य मानव-चेतना के उन स्तरो को उद्घाटित करके सामने रखता है जो बडे ही चमत्कारक और आश्चर्यपूर्ण हैं परन्तु हैं एकदम ऐसे सत्य जो मनोविज्ञान के अनुरूप हैं। प्रकृतवाद हमारे सामने ऐसे असामान्य चरित्रो (abnormal characters) को प्रस्तुत करता है जो सामान्य व्यक्ति के चरित्र से एकदम भिन्न होते हैं। अत प्रकृतवाद का मूल विषय ही मानव-स्वभाव की आदिम प्रवृत्तियाँ हैं और इस प्रकार वह मानव-स्वभाव की ही व्याख्या करता है। प्रकृतवाद का अपना पुष्ट शैली-पक्ष भी है। परन्तु सब-कुछ होते हुए भी स्वभावोक्ति और प्रकृतवाद मे मूल भेद यह है कि स्वभावोक्ति मानव-मन के सामान्य व्यवहार को प्रस्तुत करती है, उसका क्षेत्र Normal Psychology है, abnormal Psychology नही। प्रकृतवादी चरित्रों का साधारणीकरण नही होता क्योंकि वे अत्यन्त वैयक्तिक होते हैं, परन्तु स्वभावोक्ति मे चरित्रो का साधारणीकरण अनिवार्य है। जैसा कि विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है—'असामान्य या काल्पनिक 'स्वभाव' ही सही, परन्तु है तो स्वभाव ही। अत स्वभावोक्ति कहने मे बाधा क्या है?' हम उनके इस तर्क से सहमत नही हैं। सामान्य स्वभाव का उद्घाटन ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है, असामान्य नहीं। जहाँ तक शैली का प्रश्न है प्रकृतवादी शैली गद्य के क्षेत्र की चीज है, उसमे मनोवैज्ञानिकता का घटाटोप है परन्तु स्वभावोक्ति-शैली पूर्णत काव्य की शैली है। उसका आधार मनोवैज्ञानिक अनुसधान न होकर सामान्य जगत् का व्यवहार है।

औचित्य-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का एक ऐसा सिद्धान्त है जो काव्य में वर्ण्य विषय और शैली के औचित्य पर बल देता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचार-चर्चा मे इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। औचित्य स्वभावोक्ति-शैली का एक ऐसा गुण है जो इस शैली को स्वाभाविकता प्रदान करता है।

विभिन्न काव्य-प्रयोगो को हम तीन स्तरो मे विभक्त कर सकते हैं। जीवन के नित्य व्यवहार के कारण हम जगत् के अनेक व्यवहारो से परिचित होते हैं। ये व्यवहार हमारे जीवन के साथ घुलमिल जाते हैं। इस सामान्य व्यवहार के साथ जब कोई सामान्य घटना घटती है तो या तो उस सामान्यता को व्याघात पहुँचाती है या फिर उसको उत्कर्ष प्रदान करती है। यही चिरपरिचित का मान उचित का भाव है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि जो कुछ लोक-सि

है वस्तुत वही उचित है। यद्यपि उचित-अनुचित और विचित्र की सीमा-रेखाएँ काफी-कुछ स्पष्ट रहती हैं परन्तु यह भी सत्य है कि उचित और विचित्र के मध्य की सीमा-रेखा उचित और अनुचित के मध्य की सीमा-रेखा के समान एकदम स्पष्ट नहीं हो सकती क्योंकि उचित प्रयोग कहीं भी सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है, क्योंकि उसका उद्देश्य ही सौन्दर्य की सृष्टि करना होता है। मन की तीन स्थितियों—दुखी, प्रसन्न और आनन्दित मे से औचित्य की स्थिति प्रसन्न की स्थिति है, और स्वभावोक्ति शैली की स्थिति भी यही है। वह वक्रोक्ति के चमत्कार से दूर रहती है परन्तु साथ ही वह काव्यत्व को दूषित करनेवाले प्रयोगो से दूर रहती है। उसमें एक प्रकार की स्वाभाविकता रहती है जो उसके वर्ण्य-विषय के साथ सामजस्य और अपने अन्य अगो के साथ सगतता के कारण उत्पन्न होती है। अत औचित्य-सिद्धान्त काव्य-शैली के जिस गुण स्वाभाविकता पर बल देता है वह स्वभावोक्ति शैली का ही एक गुण है। औचित्य अपने मौलिक रूप मे स्वभावोक्ति-शैली का ही निरूपण करता है।

यद्यपि क्षेमेन्द्र ने वर्ण्य-विषय के औचित्य का विवेचन मे समाहित किया है, परन्तु एक तो वह अपुष्ट है, दूसरे, स्वभावोक्ति से केवल उसका इतना ही सम्बन्ध है कि अनौचित्य स्वभाव के विपरीत होता है। पैरो मे कगन और हाथो मे मेखला पहनना सामान्य स्वभाव नही है अत अनुचित है। तात्पर्य यह कि जो कुछ स्वभावजन्य है वही स्वाभाविक है, उचित है, और जो कुछ स्वभाव के विपरीत है वही अनुचित है। वस्तुत वर्ण्य विषय के क्षेत्र मे औचित्य उन गुणो की साधना करने का निर्देश देता है जो किसी वस्तु क स्वभाव के अनुरूप हैं।

स्वभावोक्ति-शैली का महत्त्व

टिलियर्ड ने अपनी पुस्तक Direct and Oblique में स्वभावोक्ति-शैली के काव्य को Direct Poetry कहा है और इस प्रकार के काव्य को द्वितीय कोटि का काव्य मानकर उसको चार दृष्टियो स महत्त्वपूर्ण माना है :

१. अनुभवो के पुनःसृजन के लिये यह शैली श्रेष्ठतम शैली है।
२. श्रेष्ठतम काव्य की श्रेष्ठता का स्थापित करने म यह काव्य शैली एक सामान्य मानदण्ड का कार्य करती है।
३. धर्म, नीति और समाज के लघु मूल्य और सामान्य उपदेश इस शैली मे श्रेष्ठतम रूप म प्रस्तुत किय जा सकते है।
४ किसी भी देश का अधिकाश साहित्य इसी शैली मे लिखा जाता है। अन्य आन्दोलन इसी में आये हुए परिवर्तन हैं।

टिलियर्ड ने स्वभावोक्ति शैली को द्वितीय कोटि की शैली कहकर उसका महत्त्व पर्याप्त मात्रा मे घटा दिया है, जबकि स्वभावोक्ति-शैली मे लिखे गये

'सूर' के पदों को संसार के महान् काव्य में स्थान प्राप्त हुआ है। टिलियर्ड ने, जिस काव्य को Direct Poetry नाम देकर द्वितीय कोटि का काव्य कहा है वस्तुत. यह वह काव्य होना चाहिये जिसकी अनुभूति द्वितीय कोटि की है। द्वितीय कोटि की अनुभूति रखनेवाला काव्य, भले ही वह व्यञ्जना के माध्यम से व्यक्त किया जाय या अभिधात्मक रूप मे, स्वभावोक्ति-शैली मे वह द्वितीय कोटि का ही काव्य रहेगा; प्रथम कोटि का हो नहीं सकता। परन्तु यदि अनुभूति का स्तर प्रथम कोटि का है तो—'ए री मैं तो प्रेम दिवानी…' जैसा उच्च कोटि का काव्य सृजित होगा जो स्वभावोक्ति-शैली मे है।

स्वभावोक्ति-शैली का वास्तविक महत्त्व यह है कि यह साहित्य के लोक-पक्ष को पुष्ट करती है। इस शैली मे लिखा काव्य जनता के पठन-पाठन की वस्तु होती है, उसका प्रचार और प्रसार होता है। काव्य मे वैयक्तिक अनुभूतियो और व्यक्तिगत शैली-विषयक प्रयोगो का अपना महत्त्व है; परन्तु इनसे जिस दुरूहता और उलझन का जन्म होता है उससे काव्य के सामाजिक मूल्य पर आघात होता है। जो काव्य जनता द्वारा पढ़ा नहीं जाता वह Imagist कवियों के काव्य की तरह अपनी मौत मर जाता है। वही काव्य जीवित रहता है जो जन-सामान्य की पहुँच के भीतर होता है। ऐसा काव्य स्वभावोक्ति-शैली के तत्त्वों से पूर्ण होता है।

यह सत्य है कि कोई भी महाकाव्य या खण्डकाव्य ऐसा नहीं बताया जा सकता जो विशुद्ध स्वभावोक्ति-शैली मे लिखा गया हो, परन्तु विशुद्ध अलंकृत शैली में लिखा गया महाकाव्य भी उपलब्ध नही हो सकता—'कामायनी' जैसे अलंकृत महाकाव्य का अन्तिम सर्ग स्वभावोक्ति-शैली के तत्त्वो से पूर्ण है और 'उर्वशी' जैसा काव्य भी इन तत्त्वो की उपेक्षा नहीं कर सका है। महाकाव्य की रचना मे उभय प्रकार की शैलियो का सामंजस्य होता है, करना पड़ता है, कवि इसके लिये बाध्य होता है। पूर्णत अलंकृत शैली अपनानेवाले काव्य के लिये स्वभावोक्ति-शैली का महत्त्व प्रबन्ध-संगठन की दृष्टि से बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार स्वभावोक्ति-शैली मे लिखे जानेवाले काव्य के लिये अलंकृत शैली उन स्थानों पर अनिवार्य हो उठती है जहाँ कवि आवेश मे होता है और वर्ण्य के साथ हुई एकरूपता को प्रस्तुत करने के लिये उससे बाहर झाँकने लगता है। अत. कहा जा सकता है कि प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र मे ये दोनो शैलियाँ एक-दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हैं।

स्वभावोक्ति : शैली या वर्ण्य

चतुर्थ अध्याय मे हमने स्वभावोक्ति के वर्ण्य विषय को प्रस्तुत किया है और पंचम मे उसके शैलीगत स्वरूप को। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि स्वभावोक्ति

मूल रूप मे एक शैली है या वर्ण्य-विषय ?

जहाँ तक वर्ण्य-विषय का प्रश्न है हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 'स्वभाव' इसका वर्ण्य है और स्वभाव के अन्तर्गत व्यक्त जगत् का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार समाहित हो जाता है। अत स्वभाव की उक्ति' काव्य का आधार है। उसके अभाव मे काव्य आधारहीन हो जाता है। इसी कारण कुन्तक के 'वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम्' के मुकाबले मे विद्वानों ने घोषणा की 'स्वभावोक्ति काव्यस्य मूलम्'। जो कुछ काव्य का मूल है वह किसी भी शैली मे आ सकता है। परन्तु स्वभावोक्ति का अपना अलग शैली-रूप भी है। उन शैलीगत विशेषताओ से विहीन मानव-स्वभाव की उक्ति को स्वभावोक्ति में समाहित नही किया जा सकता। अत कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति, काव्य का एक ऐसा प्रकार है जो मानव-स्वभाव को उन शैलीगत विशेषताओं के साथ अभिव्यञ्जित करता है जो स्वभावोक्ति-शैली के वैशिष्ट्य के रूप मे व्यक्त की जा चुकी हैं।

परिशिष्ट-१

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा लेखक को लिखे गये दो पत्र
(पहला पत्र)

फोन (दूरस्वन) ३३०६
वाणी-वितान भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१

प्रिय महोदय,

आशी ।

आपका ८ मई १९६२ का पत्र यथासमय मिल गया था । अनिवार्य कारणों से उसका उत्तर तुरन्त नहीं दिया जा सका । आपने अपने शोध का विषय अच्छा चुना है । मैं इस विषय में अपना मत संक्षेप में अपने ग्रन्थ 'वाङ्मय-विमर्श' के परिवर्धित संस्करण (सं० २०१४ में प्रकाशित) के पृष्ठ १६४ पर दे चुका हूँ । मैं इस पक्ष का हूँ कि रसोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति तीनों का काव्य में बहुत अधिक महत्त्व है । जैसे वाक्य रसात्मक काव्यम्' और 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' माना गया, वैसे ही स्वभावोक्ति काव्यस्य मूलम्' का भी प्रतिपादन हो सकता है । जैसे वक्रोक्ति जीवित में वक्रोक्ति का जो रूप प्रतिपादित है वह वक्रोक्ति नामक अलंकार से भिन्न है वैसे ही स्वभावोक्ति का विस्तार उस अलंकार मात्र से भिन्न भी प्रतिपादित हो सकता है । पश्चिमी देशों के अनुधावन पर हिन्दी के गद्य-ग्रन्थों या कथा-ग्रंथों में जो चरित्र चित्रण का माहात्म्य बहुत अधिक हो गया है वह स्वभावोक्ति का ही विस्तार है । जैसे वार्ता को भिन्न करते हैं वैसे स्वभावोक्ति को भी । आदिकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण' में राम आदि पात्रों का कथन है । उनका कवि मानस में उद्भावित रूप कुछ-न-कुछ अवश्य है । भरत और लक्ष्मण के स्वभाव में अन्तर रखा ही गया है । मैथिलीशरण ने इन पात्रों के स्वभावों की जो कल्पना की है वह भले ही पाश्चात्य प्रभावापन्न मानी जाय, पर वाल्मीकि, तुलसीदास आदि ने जो स्वभावकल्पन किया है वह सर्वथा भारतीय है । उस असाधारणीकरण को स्वभावोक्ति के

विस्तार के अन्तर्गत बड़े मजे में किया जा सकता है। मेरी धारणा है कि अलंकारिकों के अलकारों मे से बहुतों का विस्तार हो सकता है। विरोधाभास, समासोक्ति, अन्योक्ति, मुद्रा आदि कई ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष विस्तार देखा जाता है। वैसे ही स्वभावोक्ति का भी। यदि शैली के रूप मे स्वभावोक्ति का अलंकारत्व लेना है तो महिम भट्ट ने बहुत स्पष्ट कल्पना की है। शैली के अभाव के रूप मे एक अलकार यह भी हो सकता है, यह मेरी स्थापना है। दोनों का विचार मैंने उक्त ग्रन्थ मे किया है—देखिये पृष्ठ १८४ भी। विशिष्ट या असाधारण रूप अथवा असाधारणीकरण मे कवि-प्रतिभा का महत्त्व होता है आदि-आदि। पत्र द्वारा अधिक नहीं लिख पा रहा हूँ। आशा है आप सानन्द हैं।

भवदीय
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

परिशिष्ट-२

(दूसरा पत्र)

फोन (दूरस्वन) ३३०६
वाणी-वितान भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१।
दिनांक १७-६-६२

प्रिय कुलश्रेष्ठ जी,

आशीर्वचनानि ।

आपका १४ जून का पत्र मिला। स्वभावोक्ति पर विचार करने के लिए पहले उसका सम्भावित अर्थ सामने रख लें। स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन। स्वभाव ही अलकार्य हो सकता है। स्वभाव के सम्बन्ध मे जो उक्ति या कथन होगा वह सभी स्थितियों मे अलकार्य नही हो सकता। यदि स्वभाव के सम्बन्ध मे कोई उक्ति ऐसी हो जिसमे किसी अप्रस्तुत की योजना की गई हो, तो वह अलकार्य की कोटि मे हो जायगी। अब देखना यह है कि उक्ति को अलकारत्व कब प्राप्त हो सकता है। अलकार का अर्थ सौन्दर्य करने से उक्ति म सौन्दर्य अपेक्षित होगा। वह केवल वार्ता होगी तो उसमें अलकारत्व न होगा। नगेन्द्र ने जो आपत्ति उठाई है उसमे काव्यत्व और अलकारत्व को पृथक् किया है। भारतीय परम्परा म तीन प्रकार के कथन काव्य के अन्तर्गत माने जाते हैं—स्वभावोक्ति वक्रोक्ति और रसोक्ति। स्वभावोक्ति को पृथक् कर देने से काव्यत्व के लिए रस और वक्रोक्ति बच जाती है—रसजन्य काव्यत्व और वक्रोक्तिजन्य काव्यत्व। रसजन्य काव्यत्व मे रस अनुभूति से सबद्ध है, वक्रोक्ति का सम्बन्ध वाणी के स्वरूप से है। पहला व्यग-अर्थरूप होगा और दूसरा व्यजक शब्द-रूप। इससे स्पष्ट है कि जहाँ रसोक्ति होगी, वहाँ काव्यत्व व्यग अर्थ होगा और जहाँ वक्रोक्ति होगी वहाँ काव्यत्व व्यजक पद मे होगा। अवश्य ही केवल पद म काव्यत्व न होगा। उसका अर्थ भी साथ ही रहना चाहिए। स[illegible] के बिना साहित्य नहीं होगा। अत काव्य शब्दार्थ होता है। इस

जो सजावट होगी वह अलंकार होगा। उक्ति को सीधे न कहकर वक्र किया जायगा तो अलंकार आ जाता है। स्वभाव को सीधे न कहकर घुमाव से कहा जाय तो अलंकारत्व माना ही चाहिये। यह घुमाव उक्ति मे भी हो सकता है और कवि-कल्पना द्वारा रूप या स्वभाव के अकन म भी। महिम भट्ट का कहना है कि कवि-कल्पना के द्वारा जहाँ कही कोई अकन होगा वह सीधा-सादा न होगा। अत अलंकारत्व हो गया। अत यह कहना कि महिम भट्ट के कथन से काव्यत्व की ही सिद्धि होती है ठीक नहीं है।

अब अभाव पर आइये। अभाव को पदार्थ माना है प्रभाकर ने। अभाव शब्द का अर्थ है सत्ता का राहित्य। पदार्थ सत्तात्मक होता है। फिर यह पदार्थ कैसे ? कुम्हार ने घडा बनाया। जो घडा बना वह बनने से पहले नहीं था। पर घडे के अभाव की सत्ता थी। घडा टूट जाने पर भी उसके अभाव की सत्ता बनी रहेगी। इसे ही प्रागभाव और प्रध्वसाभाव कहते हैं। यही स्थिति शैली की है। शैली विशेष ढग के कथन को कहते हैं। जहाँ वह शैली न होगी वहाँ उसके अभाव की सत्ता रहेगी। अभाव की यह सत्ता भी एक प्रकार की शैली ही होगी। शैली के जैसे गुणजन्य नाना भेद होते हैं वैसे इसके न होंगे। यह एक ही भेद हो सकता है। इसीसे स्वभावोक्ति के भेद नहीं हो सकते।

स्वभावोक्ति का एक अर्थ किसी के स्वभाव का कथन भी हो सकता है। पहले अर्थ मे स्वभाव 'स्वरूप' का पर्याय था। यहाँ यह शील या चरित्र का पर्याय होगा। एक बहिरग था, दूसरा अन्तरग रूप हुआ। अब किसी के अन्तरग रूप के कथन मे भी सीधा-सादा और घुमाव-फिराव का कथन हो सकता है। अत यहाँ भी अलंकारत्व की स्थिति मे बाधा न होगी। स्वभाव का सीधा कथन मनोविज्ञान का विषय होगा। घुमाव-फिराव का कथन साहित्य का विषय होगा। राम आदि के स्वभाव का कथन ग्रथो मे दोनों प्रकार का मिलता है। *काव्यस्य मूलम्* यो कहना पडता है कि चाहे रस हो चाहे वक्रोक्ति, यह किसी-न-किसी के आधार पर ही तो काव्य में आते हैं। किसी के अन्त करण के स्वरूप को ही तो बताते हैं। यह अन्त करण चाहे काव्य के पात्र का हो चाहे कवि का ही हो। जिस अन्त करण से रस की उक्ति निकलती है या वक्र-उक्ति प्रकट होती है वह उस अन्त करण का स्वभाव ही तो होता है।

अब मनोविज्ञान के स्वभाव को लीजिये। एक समय मे एक विषय के प्रति जो भाव होता है उसे इमोशन कहते हैं। उसी विषय के प्रति जब वही भाव चिर हो जाता है अर्थात् जब वह विषय सामने आता है तब वही भाव जगता है तो वह सैण्टीमैण्ट हो जाता है। जब कोई भाव किसी विषय से सम्बद्ध नहीं रह जाता तो वह स्वभाव हो जाता है। इमोशन और सैण्टीमेंट तत्त्वत 'पर' के आधार पर होते हैं। स्वभाव मे 'पर' नहीं रह जाता। अपनी काम

शैली शब्दगत या वाक्यगत ही नहीं होती प्रबन्धगत भी होती है। जहाँ-जहाँ वह शैली होगी वहाँ-वहाँ उसका उल्लेख किया जा सकता है। प्रसाद ने 'कामायनी' के प्रारम्भिक वक्तव्य में कथा में निहित अन्यापदेश को रूपक कहा है। ऐसे ही समझ लें।

मेरा पत्र भी लम्बा हो गया है। पर आप-ऐसे व्यक्ति के लिए मैं इतने विस्तार की भी अपेक्षा नहीं समझता था। किसी अलंकार के स्वरूप में निहित सौन्दर्य और शैली का विस्तार किस प्रकार किया जा सकता है, इसका दिङ्-निर्देशमात्र ही अभी मैंने किया है। आशा है इससे कुछ संकेत आपको मिल जायेंगे। मुझे बाहर जाना है और आपके पत्र का उत्तर देना अपेक्षित था इसीसे यत्किंचित् आपको लिख रहा हूँ। बीज को वृक्ष बनाने का कार्य आपके जिम्मे है।

हितेच्छु
[illegible]ाथ प्रसाद मिश्र